भारत में शांतिमय समाजवाद

('आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक न्याय' के शान्ति-
मय प्रयोग का वैज्ञानिक विश्लेषण)

लेखक—
कृष्ण मोहन गुप्त
एम० एस सी०, एल एल० बी०

प्रकाशक—
सुभाष पुस्तक मन्दिर
बनारस (उत्तर प्रदेश)

१९५६
प्रथम संस्करण

मूल्य
दो रुपये बारह आने

प्रकाशक—
जवाहर लाल गुप्त
सुभाष पुस्तक मन्दिर
बी० ५/८० अवधगर्वी,
बनारस।

मुख पृष्ठ के चित्रकार
कांजिलाल

मुद्रक—
लक्ष्मीचन्द गुप्त
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय,
लहरतारा, बनारस—४

‘शान्तिमय समाजवाद’

के

स्वप्न द्रष्टा

गांधी

को

पुस्तक का परिचय

वस्तुतः 'प्रयोजन और प्रेरणा' में पुस्तक के लिखने की मौलिक प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है, यहाँ पर पुस्तक के नाम तथा अध्ययन-क्षेत्र का संक्षेप में उल्लेख है। 'भारत में शांतिमय समाजवाद' के कई रूप लेखक के सन्मुख आये थे, जैसे 'भारत-शान्तिमय समाजवाद की ओर' तथा 'भारतः शांतिमय समाजवादी क्रान्ति की ओर' आदि। 'भारत में शांतिमय समाजवाद' का अर्थ भारत में समाजवाद की पूर्ण स्थापना नहीं है, क्योंकि लक्ष्य की पूर्णता तो लक्ष्य की समाप्ति है; साथ ही भारत की वर्त्तमान अवस्था समाजवाद की ओर उन्मुखता मात्र का संकेत नहीं करती, प्रत्युत समाजवादी अभियान में भारत की समाज-रचना काफी दूरी तय कर चुकी है; ऐसी स्थिति में, समाजवाद के प्रयोग की ओर हमारे उत्तरदायित्त्व को प्रत्यक्ष समाजवादी आदर्श तथा उसके सफल कार्यान्विय की अवस्थाओं से प्रेरणा मिलेगी—यही पुस्तक का आशय है। व्यापक, सांकेतिक तथा दार्शनिक दृष्टि से 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग नहीं है।

पुस्तक के अध्ययन का क्षेत्र समाजवाद का स्वरूप, भारत की सांस्कृतिक प्रेरणायें, शान्तिमय साधनों का प्रयोग तथा तज्जन्य सफलतायें हैं। पुस्तक का उद्देश्य वर्त्तमान सामाजिक दिशाओं को खोजना, उनकी उपयोगिता स्थिर करना तथा उनके प्रति जन-चेतना को प्रेरित करना है। प्रयास अपने लक्ष्य में अन्तिम या पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता, वह तो एक विशाल कर्त्तव्य की भूमिका मात्र है।

—लेखक

विषय-सूची



प्रयोजन और प्रेरणा

'तथ्यों का प्रायोगिक सत्यापन ही मानव का वैज्ञानिक लक्ष्य है।'

'आवडी प्रस्ताव' में कांग्रेस ने समाजवादी नीति की जब से घोषणा की है, विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण तथा अपनी धारणाओं के आधार पर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। वस्तुतः कांग्रेस के विचार, जिनकी अभिव्यक्ति श्री नेहरू के व्यक्तित्व में होती है, सदा ही इनके लिये शंका के विषय बने रहे। कुछ विचारक ऐसा समझते हैं कि नेहरू जी के लिये समाजवादी, साम्राज्यवादी, पूँजीवादी या कोई वादी बनना उतना ही सरल है, जितनी सरलता से वे भिन्न-भिन्न देशों का भ्रमण कर आते हैं या वहाँ का वस्त्र-धारण कर लेते हैं। ऐसे लोगों के विचार से श्री नेहरू 'जैसा देश वैसा भेस या जिधर हवा उधर रुख' सिद्धान्त के व्यक्ति हैं। जहाँ तक नेहरू जी के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है, उनकी पुस्तकें, उनके भाषण तथा उनके कार्यों से ऐसा लगता है कि उनके रग-रग में समाजवादी विचारधारा की नींव है। नेहरू जी के व्यक्तित्व के प्रति यह भ्रम केवल साधारण जनता को हो जाता है, ऐसी बात नहीं है। कम्युनिष्ट पार्टी के जिम्मेदार विचारक भी उन्हें प्रगतिशील मानने के लिये विवश हो जाते हैं। आज तो जो कुछ नेहरू जी हैं या जो भारत का सपना उनके सामने है या भारतीय परम्पराओं का जिस प्रकार वे निर्वाह कर रहे हैं, यह सब दुनियाँ के सामने एक कठोर तथा कटु सत्य के रूप में उपस्थित हो चुका है। एक

ऐसा भी समय था, अधिक दिन नहीं बीते होंगे जब नारों के पागल क्रान्तिकारी गला फाड़-फाड़कर चिल्लाया करते थे "जहाँ गई है च्यांगशाही, वहीं जायगी नेहरू शाही।" लेकिन उस समय भी उनके प्रमुख पत्र 'क्रासरोड्स' के सम्पादक महोदय को कुछ लेख लिखने पड़े, एक पुस्तिका प्रकाशित करनी पड़ी जिसमें उन्होंने यह शंका व्यक्त की थी कि नेहरू जी प्रतिक्रियावादी कीचड़ से बचने की कोशिश कर रहे हैं। उस पुस्तिका का नाम रखा था उन्होंने 'Neharu towards distangement' समाजवाद की नई नीति प्रस्तुत करनेवाले आचार्य नरेन्द्रदेव नेहरू जी के विचार-दर्शन तथा मार्ग-प्रदर्शन से अपने को मुक्त कभी नहीं पा सकेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब श्री नेहरू के विचार विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थे, तब भी गम्भीर विचारकों में श्री नेहरू के व्यक्तित्व के बारे में गम्भीर मतभेद रहता था।

अब प्रश्न यह होता है कि या तो नेहरू जी का यह तथाकथित दोहरा व्यक्तित्व एक गम्भीर चाल, भ्रम-मूलक कूटनीति और पूँजीपतियों की अप्रत्यक्ष सेवा का फल है, या वह जो कुछ है उसे या तो ये विचारक अपने अस्तित्व के स्वार्थ के लिये नहीं समझ पाते या समझना नहीं चाहते। यहाँ पर इस बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि ये विचारक नेहरू जी के दार्शनिक गुरु गांधी जी के व्यक्तित्व का भी मूल्य इसी प्रकार दोहरी भाषा में आँकते थे। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि गाँधी जी तथा नेहरू जी के व्यक्तित्व के पीछे कोई एक गम्भीर दार्शनिक साम्य है, जो प्रकटतः कमजोर आँखों को दोहरा दीखता है। अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय घटनाओं का जो क्रम है, आज उनकी रोशनी में भी यदि कुछ आँखें इस ठोस तथा प्रकाशपुञ्ज व्यक्तित्व को दोहरा देखती हों, तो इन आँखों को प्रकृति के भरोसे छोड़ देना ही श्रेयष्कर होगा।

वस्तुतः यदि तथ्य पर ध्यान दिया जाय तो शुरू से अन्त तक गाँधीवादी भावना, जिसके गाँधी तथा नेहरू प्रतीक हैं, जनता के दुख को समाप्त करने की छटपटाहट से, समाज में 'आर्थिक राजनीतिक तथा सामाजिक न्याय' को साकार करने की व्यग्रता से तथा 'शान्तिमय समाजवादी व्यवस्था' की स्थापना की आकुलता से ओत-प्रोत है। यदि इस तथ्य में सत्यता के लिये कोई भी शंका का स्थान होता, तो भारत की कोटि-कोटि जनता के विशाल हृदय में ये दोनों मूर्त्तियाँ अमिट, ध्रुव तथा चमकती न होतीं और आज दुनियाँ के सामने भारत न तो अपने व्यक्तित्व को इतने गौरव के साथ उपस्थित कर पाता और न ही वह विश्व शान्ति के लिये इतना महत्त्वपूर्ण योग दे सकता। अभी चार-पाँच साल भी नहीं बीत सके हैं, सम्पूर्ण विश्व युद्ध के मनोविज्ञान से त्रस्त था, दुनियाँ के कोने-कोने में तीसरे महायुद्ध की भयावनी कल्पना से इन्तजार होती थी; लगता था युद्ध इस क्षण या उस क्षण किसी क्षण प्रारम्भ होगा और महान् अंग्रेज दार्शनिक रसेल के शब्दों में इस भीषण विभीषिका में समस्त मानव-जाति का ही अन्त हो जायगा; लेकिन आज चारो ओर शान्ति की विजयनी घोषणा हो रही है, युद्ध की कल्पना क्षीण और उसकी दूरी हमसे बढ़ती जा रही है। क्या हम इसे किसी भी मूल्य पर भुला सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय रंग-मंच पर इस महान् क्रान्तिकारी परिवर्त्तन का कौन नायक है? जब कि क्रुश्चैव, बुलगानिन, थाकिन नू, चाऊ एन लाइ, नासिर, टीटो तथा सऊदी अरब के शाह जैसे विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधि, आइन स्टाइन तथा रसेल जैसे विचारक एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि नेहरू जी ही युद्ध में डूबते संसार की एकमात्र आशा है, तब यह महान गद्दारी होगी यदि इसके महत्त्व की ओर से हम आँखें बन्द कर लें।

समझने की बात यह है कि उद्देश्य की यह पवित्रता तथा योग की अद्वितीय सफलता हमारे विचारकों को दोहरी क्यों नजर आती है ? वस्तुतः भारत ने जिस समाजवादी उद्देश्य की सृष्टि की है, वह भारतीय इतिहास के परंपराजन्य शान्ति-मूल्यों से परे नहीं है। समाजवाद के क्षेत्र में भारत एक नया प्रयोग कर रहा है और वह है शान्तिमय साधनों तथा समाजवादी लक्ष्यों का समन्वय; भावी समाज के मूल्यों के लिये वर्त्तमान के मस्तिष्क को संतुलित करना तथा समाजवादी कल्पना को अहिंसक क्रान्ति के द्वारा सर्वोदयी वास्तविकता में बदलना। नये सिद्धान्तों, नये विचारों, नये आविष्कारों तथा नये प्रयोगों का सदा विरोध हुआ है, उनकी सफलता के प्रति सदा शंकायें व्यक्त की गई हैं। यदि समाजवाद का सोवियत प्रयोग सफल न होता, यदि अपनी अद्वितीय कार्य क्षमता से लेनिन ने भगीरथ प्रयत्न करके समाजवाद की काल्पनिक गङ्गा को पृथ्वी पर अवतरित न किया होता तो मार्क्स का नया दर्शन गुदड़ी में सड़ गया होता। यही बात समाजवाद की गांधीवादी कल्पना के बारे में सत्य है। गांधी का सर्वोदय, जिसमें वे एक पूर्ण वर्ग विहीन, शोषण विहीन तथा राज्य विहीन समाज की कल्पना करते हैं, किस अर्थ में मार्क्स-एंजिल्स की समाजवादी कल्पना से कम है। शांतिमय समाजवादी क्रान्ति की अपनी समस्यायें हैं, उसका एक स्वतंत्र व्यवहारिक दर्शन है और उसके प्रयोग के काल में बहुत से प्रश्न उपस्थित हुये हैं। शान्तिमय समाजवादी क्रान्ति की अपनी प्रकृति है, उसका अपना रूप तथा अपना आकार है। मुसीबत यह है कि समाजवाद को जिन आँखों ने हिंसक क्रान्ति से सम्बन्धित देखा है, उनके लिये यह सोच पाना तर्कयुक्त नहीं जँचता कि समाजवादी व्यवस्था को शांतिमय साधनों से भी साकार किया जा सकता है। इतिहास आज शांतिमय समाजवाद के पक्ष में है, जिस प्रकार रूसी-सोवियत व्यवस्था ने समाजवाद को

तथा चीनी जनक्रान्ति ने 'नई लोकशाही' को ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रकट किया है, उसी प्रकार भारतीय प्रयोग से शांतिमय समाजवाद भी एक ऐतिहासिक सत्य का स्थान ग्रहण कर रहा है।

पूँजीवादी व्यवस्था के कर्णधार और उनके प्रतिनिधि विचारकों के लिये 'आवडी प्रस्ताव' निश्चय ही एक चिन्ता का विषय है। वे इस नवीन व्यवस्था का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझते तथा इसे निश्चय ही उतना भयानक भी नहीं समझते जितना रूसी पूँजीपति 'अक्टूबर क्रान्ति' को मानते होंगे। इन लोगों की चेष्टा यही है कि निजी उद्योग को यथासम्भव अधिक प्रश्रय दिया जाय, जिससे वे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकें।

राजनीति का वह पक्ष, जो अपने को 'वाम पक्षी' की संज्ञा देता है निसन्देह, 'आवडी प्रस्ताव' को गम्भीर विश्लेषण की सामग्री नहीं समझता। उनकी दृष्टि में चुनाव में 'वोट' प्राप्त करने की यह चाल मात्र है। इस पक्ष के विचारक अपने विचार-प्रान्त की सीमाओं के कारण यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि रूसी या चीनी पद्धति के अलावा भी समाजवाद तक पहुँचने का कोई और मार्ग हो सकता है। टीटो, चाऊ-एन लाई तथा बुलगानिन पर ये लोग हृदय से अप्रसन्न हैं, क्योंकि इन लोगों ने भारतीय समाजवाद की सफलताओं की चर्चा करके भारतीय राजनीति के वामपक्ष के लिये एक कब्र खोद दिया है। 'रक्तिम समाजवाद' की गतिहीन कल्पना की चकाचौंध इन्हें रूसी तथा चीनी तरीकों के स्पष्ट अन्तरों को भी देखने नहीं देती—यहाँ तक कि जब चीनी समाजवादी क्रान्ति के कर्णधार अपने देश में समाजवाद की नींव डालने के महान यज्ञ में अपने प्राणों की आहुतियाँ दे रहे थे, उस समय भी भारत के इन वामपक्षी विचारकों की आँखें इस तथ्य को नहीं देख पा रही थीं, उन्हें ऐसा लगता था कि चीन के समाजवादी नेता पूँजीवादी सुधारवाद से प्रभावित हैं और

उनके शुद्ध शत-प्रतिशत समाजवाद को कलुषित बना रहे है, इसीलिये भारतीय कम्यूनिस्टों ने दिल खोलकर चीनी समाजवाद के नये संस्करण की भर्त्सना की। यह उनकी आँखों की शक्ति का जीवित उदाहरण है और फिर इसमें क्या आश्चर्य है कि वे ही आँखें आज समाजवाद के भारतीय संस्करण के लिये बन्द हों। इनका अपना इतिहास तो 'लेफ्ट, राइट, लेफ्ट' की एक अजीब कवायद है, लेकिन क्रान्तिकारी आत्मशोधन की क्रिया इन्हें आत्म-घाती नीतियों से भी मुक्त कर देती है। कभी यह सोचने की ये कोशिश नहीं करते कि क्या रूस में लेनिन तथा चीन में माओ ने भी 'लेफ्ट राइट लेफ्ट' किया है और गाँधी-नेहरू को प्रतिक्रियावादी कहकर अपने कान्तिकारी उत्तरदायित्व का निर्वाह ये लोग सहज ही में कर लेते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन की ओर इनका दृष्टिकोण गतिवान नहीं, इनके सोचने का तरीका निश्चित है, इनके मूल्य अपरिवर्त्तनीय हैं, और नेहरूजी की भाषा में "इनके दलीलों ने भी एक ऐसी सूरत अख्तियार कर रखी है, जो कि आम तौर पर एक कठोर, कट्टर बहुत कुछ धार्मिक दृष्टिकोण जैसी है; यानी किसी निश्चित धारणा, किसी नारे को पकड़ लेना और बदलते हालात को समझने व उनके मुआफिक खुद को बनाने की बजाय अपने खयालात को उस नारे के मुआफिक बनाने की कोशिश करना।' विचार दर्शन की यह परम्परा घोर प्रतिक्रियावादी है। सामाजिक जटिलता के वर्त्तमान युग में यह एक अत्यधिक आश्चर्यजनक, दुखद तथा लज्जास्पद घटना है कि व्यक्ति की प्राकृतिक आँखों की शक्ति इतनी क्षीण हो गई है कि उसे तरह-तरह के चश्मों का प्रयोग करना पड़ता है और दुर्भाग्यवश ये चश्में भी रंगीन होते हैं। वस्तुतः यह एक सैद्धान्तिक प्रश्न है और इसलिये इसके विवेचन की विधि भी सैद्धान्तिक होनी चाहिये, जो स्वतन्त्र रूप से ही संभव है।

कुछ विचारक दक्षिण पंथी कहे जाते हैं। इनके विचार करने के तरीके तो और कट्टर है, निश्चित हैं तथा जो हैं, वे बदले नहीं जा सकते। ये बेचारे, जहाँ तक संभव हो, अपने को 'समाजवाद' की व्याख्या से दूर रखना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति इनकी सीमित मान्यताये हैं—एक कट्टर निष्ठा है और उसकी रक्षा के लिये हिंसा-अहिंसा कुछ भी इनका साधन हो सकता है। संस्कृति की आत्मा (Content) से इनका कोई सम्बन्ध नहीं, वे संस्कृति के रूप (Form) या वाह्याडंबर को ही संस्कृति मानते हैं, क्योंकि इनके अस्तित्व के लिये वही एक आधार है। जिस प्रकार वामपक्षी अपनी शुद्धता को परिवर्त्तन से भ्रष्ट नहीं करना चाहते, उसी प्रकार इनकी शुद्धता भी अखण्ड है, अनन्त है और परिवर्त्तन के प्राकृतिक नियम से परे है। नेहरू जी इन्हें सम्प्रदायवादी कहा करते हैं। इन लोगों की आलोचना का आधार चेतना नहीं हो सकती क्योंकि प्रगतिशील चेतनता से ये लोग भयभीत रहते हैं। आर्थिक समस्याओं को ये मायाजाल समझते है, इसलिये भारत के आर्थिक प्रश्न इनके लिये कोई महत्व नहीं रखते। ये चाहते हैं कि आध्यात्मिक सुख का कोई सार्वभौमिक फारमूला बना दिया जाय।

इसके अलावा कुछ वर्णशंकर विचारक भी हैं जो यह तय नहीं कर पाते कि दक्षिण पंथ तथा वामपक्ष में से कौन उसका जनक है और कौन उनकी जननी? ऐसे लोग अपने को प्रजा समाजवादी कहकर पुकारते हैं। डाक्टर लोहिया का कथन है कि विचारों की शुद्धता इनके लिये पार्टी अनुशासन को भंग करने के समान है। ये लोग अपने को समाजवादी घोषित करते हैं, इसलिये रह-रहकर इन्हें रक्तिम क्रान्ति का ध्यान आ जाता है। वर्ग-संघर्ष की भाषा में बोल सकना इसकी समाजवादी योग्यता की कसौटी है। समाजवाद के अपने आधार को शान्तिमय समाजवाद से ये अलग नहीं कर

पाते इसलिये सरकार को दमन, भ्रष्टाचार आदि का अभियोग लगाना ही इनके कर्त्तव्यों की सीमा है। गया प्रजा-समाजवादी सम्मेलन में आचार्य नरेन्द्रदेव के नीति-प्रस्ताव को उपस्थित करते समय उसकी यह व्याख्या की गई कि उसमें आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य कृपलानी, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री अशोक मेहता आदि सभी के विचारों का समन्वय किया गया है—इस समन्वय के कीचड़ में डाक्टर लोहिया भी काफी समय तक फँसे रहे। लेकिन मजे की बात तो यह कि जिन लोगों के विचार समन्वित किये गये थे, वे स्वयं उसकी सार्थकता से सहमत नहीं थे। प्रस्ताव के उपस्थित होते ही लोगों ने उसकी आलोचनायें की। आचार्य कृपलानी ने अपनी पहली प्रतिक्रिया में बतलाया कि यह नई नीति एक अजीब प्रकार की खिचड़ी है और खिचड़ी भी अच्छी प्रकार पक नहीं सकी है। जयप्रकाश नारायण को सक्रिय राजनीति में घसीटने की यथेष्ट चेष्टा की गई, लेकिन उन्हें खिचड़ी का स्वाद न जँचा। इन लोगों का अपना कोई दर्शन ही नहीं, 'कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा' जुटा कर इन लोगों ने अपना दृष्टिकोण बनाया है, इसीलिये इनके विचार तथा इनकी आलोचनायें भी दार्शनिक न होकर काव्यमय हो जाती हैं।

डाक्टर लोहिया कुछ समय पहले प्रजा-समाजवादी पार्टी से अलग हुये। उनका दृष्टिकोण भी कम मनोरंजक नहीं है। वे सोचते हैं कि सही नेतृत्व न होने के कारण देश में विरोधी दल नहीं पनप पा रहा है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये दो राजनीतिक दलों का सन्तुलन इनके दृष्टिकोण से आवश्यक है और इनके लिये यह आश्चर्य की बात हो जाती है कि भारतीय राजनीति में जनतान्त्रिक स्वाधीनता होते हुये भी कोई ठोस विरोध नहीं पनप पा रहा है; इसीलिये इन्होंने अपनी नई पार्टी के लिये एक सप्तवार्षिक योजना

प्रस्तुत की है, जिसमें लक्ष्य है सरकार पर इस अवधि में अधिकार पाना। उन्होंने कहा था कि न तो यह समय इतना कम है कि अधिकार-लिप्सा का दोष मढ़ा जा सके और न इतना लम्बा कि उसका प्रभाव क्रियाशीलता पर पड़े। समाजवाद क्या है? समाजवाद में किस प्रकार की व्यवस्था होती है। समाजवादी व्यवस्था में सत्ता का सन्तुलन कैसा होता है? ये सब इनके लिये अस्पष्ट हैं। ये लोग यह तो समझ नहीं पाते कि भारत में शान्तिमय समाजवादी व्यवस्था निरूपित हो रही है और फलस्वरूप सत्ता का भी शान्तिमय केन्द्रीकरण हो रहा है; केवल इनको यह आश्चर्य होता है कि राजनीति का विरोधी पक्ष कमजोर है, निर्बल है, निराश है, चाहे विरोध की आवश्यकता हो या न हो, लेकिन दृढ़ विरोधी पक्ष अवश्य होना चाहिये। विरोधी पक्ष की आवश्यकता को जनता तथा वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ निर्धारित करती हैं न कि व्यक्ति की महात्त्वाकांक्षायें। सैद्धान्तिक शिक्षा की कितनी ही घूँटे पार्टी-कार्य-कर्त्ताओं को निगलनी पड़ें, 'विरोधी पक्ष' की दुर्बलता पर कितना ही क्यों न रोया जाय और 'सरकार' बनाने की कितनी ही 'सप्त या शत वार्षिक योजनायें' क्यों न बनाई जाय; जब तक असन्तोष, विरोध तथा निराशा का स्वाभाविक कारण न होगा, 'विरोधी पक्ष' दुर्बल रहेगा; निश्चय ही जब तक एक सही व्यवस्था कायम है। डाक्टर लोहिया भी 'समाजवादी घोषणा' को भ्रम-मूलक ही मानते हैं, और यह भ्रम उनके सारे दर्शन में दिखलाई पड़ता है।

नेताओं ने इस प्रकार कई तरह के विचार जनता के सन्मुख रखे हैं और जनता उनके विचारों को उनके ही 'मन-वचन-कर्म' से नाप लेती है। विचारक को विचार व्यक्त करने के पूर्व अपने व्यक्त विचारों तथा अपने कर्मों को सन्तुलित कर लेना चाहिये। जनता के लिये एक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह भारत के

वर्तमान स्वरूप को क्या समझे ? जनता कांग्रेस की समाजवादी घोषणा में विश्वास करे या न करे। कुछ लोग सोचते हैं कि नेहरू जी चीन से लौटे तो कुछ दिनों तक समाजवादी कल्पना के शिकार हो गये और कुछ लोगों का ध्यान है कि समाजवाद के बारे में कुछ बोलकर नेहरू जी यह याद कर लेते हैं कि एक समय था जब वे भी समाजवादी थे। नेहरू जी के समाजवाद के बारे में इसी प्रकार कई भावनायें प्रचलित हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस के कार्यकर्त्ता तथा अन्य पार्टियों के साधारण कार्यकर्त्ता भी अपनी पार्टी के विचारों से अलग-अलग सोचा करते हैं। ऐसी स्थिति में यह निर्धारित कर लेना एक अनिवार्य आवश्यकता है कि वस्तुतः जो कुछ वर्त्तमान व्यवस्था में हो रहा है, वह किस दर्शन से नियन्त्रित हो रहा है, क्योंकि इसका निश्चय करने पर ही हमारा रुख इस व्यवस्था के प्रति निश्चित होगा और उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। हमारे राष्ट्र का भविष्य जनता के सहयोग और हमारी विशाल मानव शक्ति के सदुपयोग पर निर्भर करता है और यह सदुपयोग तभी सम्भव है जब जनता को यथार्थ स्थिति का ज्ञान हो जाय।

यह बड़े ही आश्चर्य तथा दुख का विषय है कि हमारे यहाँ वैज्ञानिक आलोचना की पद्धति नहीं अपनायी जाती। बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक घटनायें हो जाती हैं, लेकिन हम उनके महत्व को आँकने की कोशिश तक नहीं करते। जो कुछ अध्ययन जनता के सम्मुख आता भी है तो वह चश्मे की सहायता से लिखा होता है। उसमें कुछ निश्चित नारों की रोशनी का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये देशी रियासतों के विलयन की घटना है। भारत के इतिहास में पहली बार सम्पूर्ण भारत का मानचित्र एक हो सका तथा समानता की ओर यह एक महान कदम था, लेकिन साहित्य में इसकी ओर ध्यान सर्वथा उपेक्षित रहा। भारत में आज जो समाजवादी

क्रान्ति हो रही है, वह साधारण नहीं है। इसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभाव पड़ रहा है, लेकिन इसे भी लोग समुचित महत्व नहीं देते। यह जरूरी नहीं है कि हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो कुछ भारत में हो रहा है, वह अक्षरशः सत्य है। यह भी आवश्यक नहीं कि बिना किसी ठोस विश्लेषण तथा वैज्ञानिक गवेषणा के यह मान लिया जाय कि भारत के शान्तिमय समाजवाद का नारा केवल ढकोसला है। प्रश्न तो यह है कि तथ्यों का अध्ययन किया जाय, घटनाओं का विश्लेषण किया जाय और निष्कर्ष में कुछ मूल्य स्थापित किये जाँय। इस कार्य के लिये निष्पक्षता तथा तटस्थता आवश्यक है। आज की व्यवस्था के लिये उत्तरदायी पार्टी के इतिहास का अध्ययन करना पड़ेगा, कांग्रेस के सोचने के तरीके तथा परिस्थितियों में उसके विकास को देखना पड़ेगा। आजादी के बाद तथा पहले उसके कार्यों को सफलता की कसौटी पर कसना पड़ेगा। विचार तथा कार्य को दृष्टि में रखकर कांग्रेस तथा कांग्रेसी नेताओं की 'कथनी और करनी' का संतुलन देखना पड़ेगा और यह सभी अध्ययन उन वस्तुगत परिस्थितियों की रोशनी में होगा, जिनमें से देश को गुजरना पड़ा है। परिस्थितियों को अलग रखकर किसी भी घटना या क्रिया का मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यद्यपि यह सत्य नहीं है कि घटनायें या क्रियायें परिस्थितियाँ की दासी मात्र हैं, फिर भी उन्हें तथा उनकी दिशा को नियत करने में परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योग होता है।

जहाँ तक मेरे अध्ययन का प्रश्न है, उसका आधार कांग्रेस की "आवडी प्रस्ताव' की वास्तविकता को परखना या उसकी वकालत करना नहीं है। मैंने अपने अध्ययन में एक वैज्ञानिक रीति का आश्रय लिया है; यद्यपि मैं जानता हूँ कि सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक रीति की बहुत-सी सीमायें हैं, तथापि समाज

के सर्वाङ्गीण तथ्यों की जाँच में यदि तटस्थता और निष्पक्षता अपेक्षित है, तो वैज्ञानिक दर्शन की सहायता लेनी ही पड़ेगी। मैं तो पूर्व-स्वाधीनता युग की मान्यताओं, स्वाधीनता से उत्पन्न समस्याओं तथा उत्तर-स्वाधीनता युग की घटनाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण से कुछ ठोस निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ और इस बात में विश्वास करता हूँ कि तथ्यों की वकालत आवश्यक नहीं है क्योंकि वे स्वयं सत्य उपस्थित कर सकते हैं। जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ, कोई भी क, ख या ग यदि वैज्ञानिक गवेषणा की प्रायोगिक रीति से विषय पर सन्तुलित विचार करता, तो वह भी उन्हीं निष्कर्षों तक पहुँचता, जिन्हें मैंने अपने अध्ययन में निरूपित किया है।

यदि इन निष्कर्षों को सत्य मान लिया जाता है तो हमारे लिये एक गम्भीर जिम्मेदारी उपस्थित हो जाती है और वह है शांतिमय समाजवाद की महान क्रान्ति में मन-वचन-कर्म तथा तन-मन-धन से सहयोग करना, यदि पुस्तक के पढ़ने से इस उत्तरदायित्व के प्रति चेतनता तथा जागरुकता की प्रेरणा मिले तो लेखनी का श्रम सार्थक होगा।

शांत्यालय
बी० ७।११७ बाग हरा,
बनारस।

कृष्ण मोहन गुप्त

सैद्धान्तिक आधार शिला

"समाजवाद भारत के लिये कोई नई धारणा नहीं है। चार हजार वर्ष पहले भी भारत के लोगों में इसकी चर्चा थी। कौटिल्य और शुक्राचार्य द्वारा और महाभारत के शान्ति पर्व में एक ऐसे ढंग के समाज का वर्णन किया गया है, जो बहुत कुछ आधुनिक समाजवाद से मिलता-जुलता है।"

उ० न० ढेबर

जिस प्रकार प्रत्येक कार्य का कोई निश्चित तथा ठोस कारण होता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक गवेषणा में जो कुछ हम प्रयोग में, प्रकृति में या समाज में पर्यवेक्षण करते हैं, उनकी बुनियाद में कुछ मौलिक नियम होते हैं, जिनके नियंत्रण में वह निश्चित प्रकार की कार्यावली संपादित होती है। वैज्ञानिक का कर्त्तव्य इन्हीं नियमों को खोज निकालना है। नियमों को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य में सम्भावित प्रवृत्तियों के अध्ययन से नियत किया जाता है। सामाजिक प्रक्रियायें भी कार्य-कारण के प्राकृतिक नियम से परे नहीं हैं। 'आज' समाज का जो कुछ रूप हम देख रहे हैं, उसका आधार बीत गया 'कल' है। 'आज' को नवीन परिस्थितियाँ भी प्रभावित करती हैं और इसलिये 'आज' 'आज' बन जाता है, अपने 'कल' के रूप को वह परिवर्त्तित, परिवर्धित तथा रूपान्तरित कर लेता है। 'आज' को समझ सकना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा यदि हम 'कल' की ओर आँखें मूँद लें या 'कल' को किसी रंगीन चश्मे से देखें। मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि आजादी के बाद भारत में जो कुछ रूप-

परिवर्त्तन हुआ है, उसके अध्ययन में मैंने वैज्ञानिक प्रणाली अपनाया है। अध्ययन के ही पूर्व मैं कुछ मानकर नहीं चला हूँ; इसमें पूर्व निर्धारित मान्यतायें नहीं है, लेकिन जिन मान्यताओं का संकेत निष्कर्ष के रूप में मिला है, उन्हें मैंने भारत के सांस्कृतिक इतिहास में खोजने की कोशिश की है, उन मान्यताओं के आदि पाने के लिये मुझे उन नेताओं के विचारों तथा कार्यों को देखना पड़ा है, जो इस वर्त्तमान व्यवस्था के जन्मदाता हैं, जिन्होंने अपने जीवन को इस महायज्ञ के लिये बलिदान किया है; इन मान्यताओं के रूप को निश्चित करने के लिये भारतीय विधान के पन्ने खोलने पड़े हैं, जिनमें वर्त्तमान व्यवस्था की कल्पनायें हैं।

शांतिमय समाजवादी क्रान्ति, सम्भव है, पिछली शताब्दी के विचारकों के लिये बोधगम्य न रहा हो, लेकिन फिर भी मानव-कल्याण की छटपटाती भावनायें उनके हृदय में भी शान्ति और सुख के सम्बन्ध को अमिट स्थान देती थीं। प्रश्न यह उठता है कि शान्ति, समाजवाद और क्रान्ति ये कैसे विचारों के प्रतीक हैं और इनमें कुछ परस्पर सम्बन्ध संभव है या नहीं। इन शब्दों की परिभाषायें विचारक के व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) भावनाओं से मुक्त नहीं हो सकती, और इसलिये इनका रूप निश्चित करने के बाद ही हम यह विचार कर सकेंगे कि उनका क्या पारस्परिक संतुलन है। इस अध्याय के प्रथम भाग में इन प्रतीकों को निश्चित करने की चेष्टा होगी तथा द्वितीय भाग में यह देखने की कि इन निश्चित अर्थों में ये प्रतीक भारत की संस्कृति में कहाँ तक वर्त्तमान रहे हैं।

पहले समाजवाद को ही ले लिया जाय। भिन्न-भिन्न विचारकों ने समाजवाद को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखा है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि समाजवाद की बुनियाद सामाजिक असमानता को दूर करने में निहित है। मनुष्य की सभ्यता और उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास इतिहास में एक ही बिन्दु से प्रारम्भ करता है तथा कालान्तर

तक उनका विकास समानान्तर ही होता रहता है। समाजवाद के सिद्धान्तों के विकास के लिये मानव इतिहास के भौतिकवादी धारणा पर विचार करना पड़ेगा।

समाजवादी विचारों का प्रारम्भ

मनुष्य के सामाजिक प्राणी बनने का भी इतिहास है। जंगली तथा बर्बर युग से ज्यों-ज्यों वह सभ्यता की ओर बढ़ता है, उसमें अधिक-से-अधिक सामाजिक गुणों का विकास होता है। मानव अन्य पशुओं से बुद्धि तथा शक्ति में अधिक क्षमता रखता है और इसलिये उसने अन्य पशुओं को यथासंभव अपनी सेवा के लिये उपयोग किया है। आदिम साम्यवाद से जब मानव-समाज इतिहास के मार्ग पर आगे लुढ़कता है, तो नये उत्पादन के साधन पशुपालन और कृषि के आविष्कार के साथ एक नया वर्ग उत्पन्न होता है, कुछ मनुष्य पूँजी और शक्ति संचित कर लेते हैं तथा अन्य लोगों से अधिक बलशाली हो जाते हैं। ये लोग अन्य मनुष्यों को अपने अधिकार में कर लेते हैं तथा उन्हें अपना 'दास' कहते हैं। दासों को वे लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाते हैं तथा दासों का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। दास इस प्रकार की व्यवस्था को शान्तिपूर्वक नहीं मानते इसलिये वे दास-स्वामी वर्ग से संघर्ष करते हैं तथा शोषण का तीव्र विरोध करते हैं।

इस सामाजिक उथल-पुथल में असमानता की नींव पड़ जाती है। समाज में इंसान दो वर्गों में विभाजित हो जाता है। कुछ लोग जीविका-निर्वाह के लिये श्रम नहीं करते, केवल विलास में जीवन व्यतीत करते हैं तथा दूसरे लोगों को रात-दिन परिश्रम करने के बाद मुश्किल से जीने भर को मुट्ठी भर अन्न मिल पाता है। इस प्रकार दो सामाजिक कोढ़ उत्पन्न होते हैं। एक ओर तो शोषक वर्ग की दृष्टि में 'श्रम की प्रतिष्ठा' कम हो गई, वे लोग मेहनत से घृणा करने लगे और दूसरी ओर शोषित

दासों से आवश्यकता से अधिक परिश्रम लिया जाने लगा। श्रम से घृणा और असमानता के कारण शोषण की प्रवृत्तियाँ मानव-समाज में घुन की तरह लग गईं।

एक तीसरी और घटना हुई, जो समाज में वर्गों के स्वार्थ के लिये जरूरी थी और वह था राज्य का उदय। शोषक वर्ग के सामने यह समस्या उपस्थित हुई कि शोषित वर्ग शान्तिपूर्वक शोषण को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। वे उसका हिंसक साधनों से विरोध करते थे। शोषकों के द्वारा स्थापित भूमि-स्वामित्व तथा अन्य साम्पत्तिक सम्बन्धों को वे स्वीकार नहीं करते थे, इसलिये नये कानून बनाये गये; रह-रहकर विप्लव कर देते थे, इसलिये पुलिस, सेना और राज्य की व्यवस्था की गई; अधिकारों के बारे में तर्क तथा झगड़ा करते थे, इसलिये न्यायालय स्थापित किये गये; और उनके संतोष तथा शान्ति के लिये भाग्यवाद का प्रतिक्रियावादी दर्शन पकाया गया।

समाजिक रोग तथा उनकी वृद्धि

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ऐतिहासिक विकास में तीन सामाजिक कोढ़ उत्पन्न हुये। (१) श्रम की प्रतिष्ठा से घृणा (२) शोषण और (३) राज्य तथा इससे सम्बन्धित अन्य संस्थायें जैसे पुलिस, सेना न्याय और सम्बन्धित दर्शन जैसे भाग्यवाद। इतिहास के अगले काल में ये रोग बढ़ते ही गये। समाज में भौतिक उत्पादनों का नया विकास होता गया। शोषण के नये-नये साधनों का आविष्कार हुआ। शोषक बदलते गये, लेकिन शोषण की व्यवस्था जसकी तस कायम रही और शोषण की प्रकृति, आकार तथा सीमायें विस्तृत होती गईं। पूँजीवादी शोषण व्यवस्था में शोषण की पराकाष्ठा हो गई। मार्क्स ने लिखा है कि पूँजीवादी व्यवस्था के पहलेवाले समाजों के शोषकों में कम-से-कम इतनी तो शक्ति थी कि वे शोषितों को जीवित रखने के लिये भोजन

तथा अन्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें पूरी कर सकें, किन्तु यह पूँजीवादी समाज तो इतिहास में इतना निकम्मा ठहरा कि जिन मजदूरों का यह शोषण करता है, उनको जीवित रखने की भी क्षमता इसमें नहीं है। 'अति उत्पादन' तथा 'बेकारी' के कोढ़ मानव-इतिहास के लिये नये थे। इन कोढ़ों का परिणाम यह हुआ कि अनाजों के ढेर पर भूखा इंसान मरने लगा, कपड़ों के गट्ठर एक ओर सड़ने, लेकिन बाजारू कीमत को न घटने देने के लिये नंगे मनुष्यों को उनसे वञ्चित रखा गया। इस भीषण शोषण की कल्पना से भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। समाजवाद का जन्म इसी शोषण को समाप्त करने के लिये हुआ, इस शोषण की व्यवस्था का अन्त ही समाजवादी लक्ष्य बन गया। मनुष्य के मूल्यों में समानता को पुनः प्रतिष्ठित करना ही समाजवाद का व्यवहारिक दर्शन बन गया।

सन्तों का समाजवाद

शोषण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ऐसे सन्त या महात्मा पैदा हुये, जिन्होंने समाज की इस तीक्ष्ण असमानता का विरोध किया। किसी भी व्यक्ति के हृदय में यदि मनुष्यता के प्रति कुछ भी सहानुभूति हो, तो उसके लिये मनुष्य का शोषण सह्य नहीं हो सकता और संभव है, यह भावना विद्रोहके रूप में प्रकट न हो; दया, धर्म या सहानुभूति का रूप पकड़ ले। मानव-समाज के बारे में कोई भी यदि गम्भीर चिन्तन होता है, तो स्वभावतः उसका अन्त समाजवाद में हो जाता है। प्रश्न यही है कि समाजवाद के प्रति उत्पन्न भावनायें संगठित होकर कार्य रूप पकड़ती हैं या उनकी अभिव्यक्ति की सीमायें केवल भावों तक ही सीमित रह जाती हैं। क्रियात्मक समाजवाद बहुसंख्यक जनता का संघर्षात्मक विज्ञान है। समाजवाद के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि शोषण की बुनियाद को पहचाना जाय, बल्कि साथ ही उस बुनियाद को समाप्त

करने के लिये संगठन तथा कृतसंकल्प प्रेरणा की भी आवश्यकता है। सन्तों के समाजवाद में मानव-मूल्यों के प्रति अपार स्नेह है, परन्तु उसमें क्रियात्मक बल नहीं हैं, इसलिये वह समाजवाद काल्पनिक ही रहा, एक ऐतिहासिक सत्य का रूप धारण न कर सका। समाजवादी सन्त केवल भारत ही में रहे हों, ऐसी बात नहीं है। दुनियाँ के सभी राष्ट्रों में शोषण का विरोध सभी अवस्थाओं में किया गया है, किन्तु विरोध की रूपरेखा केवल सैद्धान्तिक ही रही।

मार्क्स के पूर्व का समाजवाद

जर्मनी इंगलैण्ड तथा फ्रांस में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास और औद्योगिक क्रान्ति दुनियाँ में सबसे पहले हुई। शोषण का रूप पूँजीवादी समाज में अत्यन्त हिंसक तथा उग्रतम हो जाता है, इसलिये समाजवाद का जन्म भी इन्हीं देशों में हुआ। रूस में समाजवाद के वैज्ञानिक रूप को प्रयोगात्मक सफलता मिली, किन्तु समाजवाद का जन्म काफी समय पहले पश्चिम यूरोप में हो गया था। फ्रांस में साम्यवादी दर्शन के प्रथम नेता श्री सेंट साइमन थे, जिनका जन्म सन् १७६० ईस्वी में हुआ था। सन् १७७१ ईस्वी में इंगलैण्ड के प्रथम साम्यवादी श्री रावर्ट ओवन ने जन्म लिया था। इन विचारकों के दर्शन पर तत्कालीन समाज की शोषण व्यवस्था का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। तत्कालीन साहित्य में अंग्रेज और फ्रांसीसी किसान तथा मजदूरों के हृदय विदारक दृश्य उपस्थित किये गये हैं। थामस किर्कप तथा किंग्सले की रचनाओं को पढ़कर किसानों तथा मजदूरों की दुर्दशा का सजीव चित्र आँखों के सामने आ जाता है। न तो उन्हें पेट भर अन्न मिल रहा था और न तो तन ढकने के लिये पूरा कपड़ा, रहने के लिये अच्छे निवास स्थान न थे, शिक्षा और दवा का तो कहना ही क्या? उन्हें अच्छी तरह चूँसा जा रहा था और सबसे बड़ी

दुखद बात तो यह थी कि अधिकारों के लिये संघर्ष कर सकना भी असम्भव था क्योंकि उनके पास कोई राजनीतिक संगठन न था।

शोषण की इस व्यवस्था को सेण्ट साइमन सह न सके। फ्रांस में उन्होंने इसके विरुद्ध नारा दिया तथा उनमें यह शक्ति न थी कि वे प्रत्यक्ष संघर्ष कर सकते, इसलिये वे सरकार से दया की अपील किया करते थे। उनके विचार हम उनके ग्रन्थों (Du System Industrial Catechisme des Industrials और Nowean Christianisme) में पाते हैं। उन्होंने समाजवादी भावनाओं को धार्मिक भावनाओं के साथ जोड़ दिया, इसलिये जनता पर उनका काफी प्रभाव पड़ा। सेण्ट साइमन मनुष्यता के नाते सभी मनुष्यों में समानता स्थापित करने के पक्ष में थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करने के लिये एक संगठन भी बनाया था, जो उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों बज्राद, आँफाँवीं आदि के बीच मतभेद होने के कारण समाप्त हो गया।

समाजवादी विचारों का भी विकास होता ही गया। फ्रांस में समाजवाद के दूसरे सैनिक लूई ब्लाँ थे, जिन्होंने 'श्रम का संगठन' नामक पुस्तक लिखकर मजदूरों में नई प्रेरणा उत्पन्न की। इनके विचार से उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का स्वामित्व सामाजिक हितों के विरुद्ध था। फ्रांस की क्रान्ति में 'समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुता' का नारा तो लगा ही, साथ ही नये समाजवादी मूल्य स्थापित हुये। समाज के समाजवादी दर्शन के विकास में प्रौधन का नाम अमर रहेगा। उसने अपनी पुस्तकों में क्रान्तिकारी विचार उपस्थित किये। सम्पत्ति को संचित करनेवालों को उसने चोर बतलाया तथा 'न्याय और धर्म' की पुरानी धारणा में उसने क्रान्ति की माँग की। उसने न्याय के नये मूल्यों की सृष्टि की। इस प्रकार मार्क्स की वैज्ञानिक आर्थिक व्याख्या को इतिहासकार प्रौधन के इस विचार में पाते हैं

जिसमें उसने यह रहस्य प्रकट किया था कि निजी कमजोरियों के कारण साधन विहीन मजदूर उतनी मजदूरी नहीं पाता, जितना वह वास्तव में कार्य करता है।

इंगलैण्ड का प्रथम साम्यवादी रावर्ट ओवन एक कुशल व्यापारी भी था, इसलिये वह एक कपड़े के मिल का मैनेजर बन गया। मैनेजर के रूप में उसने मजदूरों के शोषण का प्रत्यक्ष दर्शन किया, उसका हृदय दया से पिघल गया तथा उसने मजदूरों के लिये पाठशालायें खुलवाईं। जो रुपिया वह कमा पाता था, सभी को मजदूरों के हित में खर्च कर देता था। 'समाज का नया दृष्टिकोण', 'मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध में निबन्ध', 'गरीबों का संरक्षक', आदि पुस्तकों में रावर्ट के विचार प्रकट हुये हैं, जिनमें स्वयं उसके विचार के विकास की अवस्थायें स्पष्ट हैं। रावर्ट ने एक स्थान पर लिखा है, "मजदूर और किसानों के परिश्रम से सारा उत्पादन होता है, किन्तु इतना उत्पादन करके भी वे केवल जीने भर के लिये भोजन पाकर ही संतुष्ट रहते हैं और उत्पादन का शेष हिस्सा पूँजी-पति, सामन्त, राजा और पादरियों के जेब में चला जाता है।" रावर्ट ने अपने जीवन-काल में समाजवादी आन्दोलन के लिये भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु उसके बाद ही संगठन छिन्न-भिन्न हो गये।

समाजवाद का वैज्ञानिक रूप

समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय जर्मनी के विचारकों को है। इनमें लासले, राडवर्टस, ऐंजिल्स तथा कार्ल मार्क्स के नाम स्मरणीय है। लासले उच्च शिक्षाप्राप्त नवयुवक था उसने 'समाजवादी जनतांत्रिक पार्टी' की स्थापना की। वह बहुत-सी बातों में मार्क्स तथा राडवर्टस को पथ-प्रदर्शक मानता था। लासले एक भावुक विचारक न था, उसके विचार वैज्ञानिक तथा वास्तविक होते थे, यही कारण है

कि मार्क्स तक पहुँचते-पहुँचते उसके विचार पूर्ण वैज्ञानिक हो गये। लासले ने 'मजदूरी का लौह नियम' प्रतिपादित किया, जिसके अनुकूल लासले यह विचार प्रकट करता है कि 'पैदावार पर पूँजी के नियन्त्रण के कारण मजदूर को पैदावार का कम से कम भाग मिलता है।' यहीं पर वह भावी वैज्ञानिक समाजवाद की रूपरेखा तैयार करता है।

राडवर्टस ने पूँजीपतियों के पास अर्थ के साधनों के केन्द्रीकरण का विरोध किया क्योंकि उसके विचारों के अनुकूल ज्यों-ज्यों पूँजी एक वर्ग के हाथ में केन्द्रित होती है त्यों-त्यों मजदूरों की शक्ति का उपयोग समाज के भूखे-नंगे अङ्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति में न होकर भोग के पदार्थ उत्पन्न करने में होती है। उसने एक आदर्श समाज की कल्पना भी की, जिसे भावी समाजवादी समाज की रूपरेखा समझा जा सकता है।

समाजवादी दर्शन में मार्क्स-युग

मार्क्स के आने से समाजवादी विचार धारा का वैज्ञानिक आधार निरुपित हो गया। लेनिन ने 'मार्क्सवादी सिद्धान्त' के बारे में अपनी व्याख्या इस प्रकार की है।

"मार्क्सवाद मार्क्स की शिक्षाओं तथा विचारों की प्रणाली है। मार्क्स ने अपनी अद्वितीय काय क्षमता से उन्नीसवीं शताब्दी के तीन प्रधान सैद्धान्तिक धाराओं को समन्वित किया। ये तीनों धारायें मानव जाति के तीन प्रमुख विकसित राष्ट्रों से सम्बन्धित हैं। वे तीनों हैं, जर्मनी का प्रमाणिक दर्शन, इङ्गलैण्ड का राजनीतिक अर्थ शास्त्र तथा फ्रांस का समाजवाद। इन तीनों को उन्होंने फ्रांस के सामान्य क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से संतुलित किया।" (Marx Engles Marxism Moscow 1951 पृ 20)

मार्क्स ने मानव इतिहास का अध्ययन भौतिकवादी दृष्टिकोण से

प्रस्तुत किया तथा उनके सामाजिक गतिशीलता के सिद्धान्त से समाजवाद का निश्चित तथा ठोस भविष्य सामने आ गया। उन्होंने शोषितों के लिये एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अस्त्र दिया, जिससे कि समाजवाद की अन्तिम लड़ाई में विजय प्राप्त की जा सके ! मार्क्स पहले समाजवादी हैं, जिनके विचारों ने सामाजिक सत्य का रूप धारण कर समाजवाद की सार्थकता को सिद्ध किया।

मानव-समाज के इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

आदिम साम्यवाद के बाद मानव समाज में नये उत्पादन के साधनों के साथ नये वर्ग का जन्म हुआ। आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्ति होने पर पूरा का पूरा समाज प्रभावित होता था। दासता से अर्द्धदासता, तथा क्रम से सामन्त युग और पूँजीवादी युग का जन्म हुआ और इन्हीं युगों में नये-नये उत्पादन-साधनों के साथ नये-नये वर्ग आये, जिन्होंने पहले की वर्ग-रचना को भङ्ग किया। पूर्व समाज में सत्ताधारी वर्ग से सत्ता स्वयं लेने के लिये बल प्रयोग किया गया। इस प्रकार मार्क्स के द्वारा समाज के विकास का यह विश्लेषण उन्हीं के शब्दों में देखिये।

"सामाजिक उत्पादन पर आधारित जीवन में मनुष्य निश्चित सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं और ये सम्बन्ध अनिवार्य हैं, उनकी इच्छा के परे हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुरूप होते हैं।....अपने विकास की एक निश्चित अवस्था में समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियों का, उत्पादन के तत्कालीन वर्त्तमान सम्बन्धों से विरोध हो जाता है—या कानूनी भाषा में उस समय के उन सम्पत्ति-सम्बन्धों से विरोध हो जाता है, जिनमें अभी तक वे कार्य कर रहे थे।....और इतिहास में तब सामाजिक क्रान्ति के युग का उदय हो जाता है।" (७ जुलाई १८६६ को मार्क्स

के द्वारा लिखे गये पत्र में जो उन्होंने एंजिल्स को लिखा था "उत्पादन के साधनों के द्वारा श्रम-संगठन के निर्धारण का सिद्धान्त।")

इस व्याख्या से सामाजिक विकास के दो नियम स्पष्ट होते हैं जिन्हें इमाइल वर्न्स ने अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद क्या है ?' में सूत्रित किया है। पहला तो यह कि भौतिक उत्पादन के एक नये साधन के साथ एक नये वर्ग का समाज में जन्म होता है, और दूसरा यह कि यह नया वर्ग अपने हाथ में सत्ता लेने के लिये अपने पूर्व के सत्ताधारी वर्ग से संघर्ष करता है। पूँजीवादी समाज के बाद सर्वहारा वह नया वर्ग है जो एक नये उत्पादन-साधन के साथ उत्पन्न हुआ है और इसलिये समाज का भावी इतिहास उसके हाथ में है। सर्वहारा एक ऐसा वर्ग है, जिसकी संख्या समाज में एक बहुमत बनाती है और इसलिये सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति से समस्त मानवता वर्ग-शोषण के शिकंजे से मुक्त होगी।

वर्ग संघर्ष

वर्ग क्या है ? क्या वर्ग मानव-समाज में प्रारम्भ से अन्त तक रहेगें ? साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि वर्ग किसी समाज में उन लोगों का समुदाय है, जो अपनी जीविका निर्वाह एक प्रकार से करते हैं। उदाहरण के लिये सामन्ती व्यवस्था में सामन्तों का आर्थिक जीवन एक प्रकार का था और किसानों का दूसरे प्रकार का, इसलिये तत्कालीन समाज में सामन्त और किसान दो वर्ग थे। दूसरे प्रश्न का उत्तर है न तो वर्ग मानव-समाज के प्रारम्भ में रहे हैं और न तो अन्त तक रह जाँयेगें। मार्क्सवाद को एक वर्ग-विज्ञान समझना और सत्य को झूठ समझना दोनो एक ही बात है। वर्ग-संघर्ष के विश्लेषण से मार्क्सवाद बहुत प्रसन्न नहीं होता, मानव-समाज के इतिहास में वर्गों का आना न तो कोई स्वागत योग्य घटना थी और न ही इसे भावी मानव-समाज में सहन ही किया जायगा; इसीलिये मार्क्स का 'साम्यवादी

समाज' तथा गांधी का 'सर्वोदयी समाज' कोई भी वर्गों को प्रश्रय नहीं देता। कुछ लोग समझते हैं कि वर्ग-संघर्ष की खोज मार्क्सवाद की देन है और फिर वे मार्क्सवाद को ही वर्ग-संघर्ष का विज्ञान मानने लगते हैं। मार्क्सवाद न तो वर्गों की उत्पत्ति को अनादि मानता है और न वर्ग-संघर्ष को एक शाश्वत सत्य मानता है। वर्ग विहीन समाज ही मार्क्सवाद का दार्शनिक लक्ष्य है। मार्क्स आर्थिक गतिशीलता की मान्यता के कारण पूँजीवादी समाज का समाजवादी समाज में रूपान्तरण एक निश्चित सत्य मानते हैं और अपने साम्यवादी समाज में गाँधी की तरह वे राज्य की भी आवश्यकता नहीं मानते। ऐंजिल्स ने 'Anti Duhring' में लिखा है।

"पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य का पहला काम होगा—पूरे समाज के लिये उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित करना—और यही कार्य 'राज्य' के रूप में उसका अन्तिम कार्य होगा। समाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप धीरे-धीरे अनावश्यक हो जायगा और फलतः राज्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जायगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चे मार्क्सवादी साम्यवादी समाज में 'राज्य' या वर्ग की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते और उनके अन्त को एक वैज्ञानिक सत्य मानते हैं।

समाजवाद की मान्यतायें

समाजवादी विचारों के सैद्धान्तिक विकास के अध्ययन में कुछ निर्विवाद मान्यतायें स्थिर होती हैं। समाजवाद का प्रधान उद्देश्य शोषण की व्यवस्था को समाप्त करके मानव-मूल्यों में स्वाभाविक समानता ले आना है। इतिहास की पूँजीवादी अवस्था में शोषण तथा असमानता की विभीषिका समाजवादियों को असह्य है। समाज में शोषण की प्रकृति प्रधानतः दो हैं, जिनको हम शोषण के जन्म से ही पहचान सकते हैं।

आर्थिक साधनों का व्यक्ति और वर्ग के हाथों में केन्द्रित होना तथा आर्थिक स्वार्थों के लिये सत्ता का केन्द्रीयकरण। इन्हें हम आर्थिक तथा राजनीतिक या सामाजिक शोषण की संज्ञा दे सकते हैं। शोषण के इन रूपों से आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अन्याय उत्पन्न होते हैं। समाजवाद इन ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकार करता है। एक राष्ट्र में ही पूँजीपति वर्ग के द्वारा राष्ट्र की शेष जनता का शोषण प्रारम्भ होता है। पूँजीपति वर्ग राष्ट्र की सम्पूर्ण सत्ता तथा उत्पादन के साधनों पर अधिकार करता है और जब इसकी अन्तिम परणति हो जाती है तो वह अपने शोषण के दायरे को और विस्तृत करता है। राष्ट्रवाद का चोंगा पहन कर वह अन्य राष्ट्रों के शोषण की योजनायें बनाता है, इसमें वह अपने निजी राष्ट्र के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करता है तथा युद्ध के माध्यम से अन्य राष्ट्रों को अपने उपनिवेश के रूप में बदल देता है। यही साम्राज्यवाद के प्रारम्भ तथा विकास की जड़ है। पूँजीवाद मानव के द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था है और साम्राज्यवाद राष्ट्र के द्वारा राष्ट्र के शोषण की। समाजवाद के प्रवर्त्तक लेनिन शोषण के विस्तृत क्षेत्र के ऐतिहासिक तथ्य—साम्राज्यवाद को स्वीकार ही नहीं करते, परन्तु उससे मुक्ति का कार्य-दर्शन भी उपस्थित करते हैं। इसमें विरोध के लिये कोई स्थान नहीं है कि समाजवाद शोषण के सभी रूपों तथा क्षेत्रों का तीव्र विरोध करता है, उसे समाप्त करने का व्यवहारिक दर्शन उपस्थित करता है तथा वर्त्तमान व्यवस्था के अन्त होने पर एक नये वैज्ञानिक, शोषण विहीन, वर्ग-विहीन तथा राज्य विहीन समाजवादी समाज की रूपरेखा बनाता है—जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान साधन उपलब्ध हों तथा सभी का उदय हो।

शान्ति तथा क्रान्ति

प्राचीन परिभाषाओं से शान्ति तथा क्रान्ति दो विरोधी तत्त्व से

प्रतीत होते हैं, किन्तु इस समझ का आधार सोचने का गतिहीन तरीका है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि समाज के विकास का नियम परिवर्त्तन है और साथ ही यह एक स्वाभाविक सत्य है कि दुनियाँ का प्रत्येक व्यक्ति जीवन के निरन्तर विकास के लिये शान्ति चाहता है, अतः शान्ति तथा क्रान्ति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। क्रान्ति आमूल परिवर्त्तन का ही पर्यायवाची है, जो शान्ति के वातावरण में सम्भव है। जो लोग क्रान्ति को मानव-रक्त के अपव्यय का प्रतीक मानते हैं, वे मानवीय क्रान्ति की परिभाषा से बहुत दूर हैं। जिस प्रकार देवियों को प्रसन्न करने के लिये बकरों का बलिदान दिया जाता है, उसी प्रकार यदि हम क्रान्ति देवी को प्रसन्न करने के लिये इंसानों का गला घोंटें, तो धार्मिक कट्टरता और समाजवाद के वैज्ञानिक दर्शन में अन्तर ही क्या रह जाता है? किसी भी स्वस्थ मस्तिष्कवाले क्रान्तिकारी समाजवादी के लिये क्रान्ति का लक्ष्य इंशानों के लिये कब्र खोदना नहीं हो सकता। चीनी क्रान्ति के अधिनायक माओ से एक विदेशी पत्रकार ने प्रश्न किया था कि आखिर चीन में गृह-युद्ध कब तक चलता रहेगा? उसे उत्तर मिला था 'हम तो शान्ति चाहते हैं, इसका निर्णय जनता के शत्रु करेंगे कि उन्हें कब तक लड़ाई जारी रखना है।' अब तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि महान क्रान्तिकारी माओं के हृदय में शान्ति की कितनी उत्कट पिपासा छिपी है। दुनियाँ में शायद ही कोई सच्चा समाजवादी राष्ट्र हो, कदाचित ही कोई क्रान्तिकारी समाजवादी हो, जिसके हृदय में शान्ति के प्रति अगाध प्रेम न हो और यदि कोई ऐसा समाजवादी अपने को घोषित करता है, तो निश्चय ही इतिहास के कब्र में उसका स्थान हिटलर के बगल में सुरक्षित रहेगा।

२६ दिसम्बर १९५५ को श्री नेहरू ने भाषण देते हुए शान्ति तथा क्रान्ति के इस नये समन्वय को उपस्थित किया है;

"भारत एक क्रान्ति के दौरान में है—एक प्रगतिशील आन्दोलन

जिसका लक्ष्य शान्तिमय तरीकों से जीवन के सभी अंगों में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्त्तन ले आना। कुछ लोग सोचते होगें कि नारेबाजी और सिर फोड़उवल नहीं है तो क्रान्ति कैसे सम्भव है? लेकिन तथ्य यह हैकि भारत में परिवर्त्तन के लिये एक गति है और अत्यधिक तीव्र गति है।"

भारत की जनता की परंपरा पर अपना विचार प्रकट करते हुये उन्होंने कहा—

"ऐसा लगता है भारतीय जनता ने कार्यों—बड़े-बड़े कार्यों को भी शान्तिमय ढंग से पूरा करने की परम्परा सी बनाली है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि हमलोग दूसरे लोगों से कुछ अधिक बुद्धिमान लोग है या किसी माने में अधिक अच्छे हैं, लेकिन फिर भी भारतीय परम्परा में कुछ ऐसी विशेषता है कि हमलोग महान् परिवर्त्तन शान्तिपूर्ण साधनों से करने में समर्थ होते हैं।"

इसके बाद 'शान्ति' पर उन्होंने उसी भाषण में अपना विचार प्रकट किया—

"अब शान्ति के बारे में लोग खुलकर तथा जी भर बात करते हैं लेकिन एक ऐसा भी समय था जब 'शान्ति' को लोग विकास के मार्ग का रोड़ा समझते थे। कुछ लोग 'शान्ति' का नाम सुनते ही बौखला पड़ते थे और या तो उसे भड़कानेवाला हथियार समझते थे या अपने विरोधियों को नैतिक रूप से नीचा दिखाने का साधन। भारतीय जनता की शान्ति आज एक ठोस साधन के रूप में इतिहास के सामने है। शान्ति के माध्यम से भारत को गुलामी के जंजीरों से मुक्त करना तथा भारत में कुछ सफल समाजवादी योजनाओं को कार्यान्वित करना प्रयोगिक सत्य हैं; इसलिये शान्तिमय क्रान्ति को तथ्य के रूप में स्वीकार न करना विज्ञान को चुनौती देने के समान है।

शान्तिमय समाजवादी परम्परा

भारतीय परम्परा में महान परिवर्त्तन पूर्ण शान्तिमय साधनों से सम्पादित हुये हैं। राम और भरत का त्याग-युद्ध मानव-इतिहास में अद्वितीय आदर्श उपस्थित करता है। सम्राट अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य की नींव शान्ति पर आधारित किया। 'ओम् शान्तिः शान्तिः' भारतीय परम्परा की आत्मा है और श्री कृष्ण गीता में उपदेश देते हैं कि जिस व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक धन है, वह उसका स्वामी नहीं बल्कि एक सामाजिक चोर है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना अति प्राचीन होते हुये भी आज के आधुनिक समाजवाद के विचार-दर्शन के समानान्तर है। बम्बई कांग्रेस द्वारा २४ अप्रेल १६५५ को आयोजित कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अध्ययन केन्द्र के उद्‌घाटन के अवसर पर श्री उ० न० ढेवर ने कहा था।

"समाजवाद भारत के लिये कोई नई धारणा नहीं है। चार हजार वर्ष पहले भी भारत के लोगों में इसकी चर्चा थी। कौटिल्य और शुक्राचार्य द्वारा और महाभारत के शान्तिपर्व में एक ऐसे ढङ्ग के समाज का वर्णन किया गया है, जो बहुत कुछ आधुनिक समाजवाद से मिलता जुलता है। वे जानते थे कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था भारतीय जीवन और भारतीय प्रतिभा के अनुकूल थी। भारत के लिये वे सम्पन्नता के दिन थे। जमीन की कमी नहीं थी और जनसंख्या का आकार भी सीमित था। राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण न्यायोचित ढंग पर होता था और समाज की अवस्था प्रायः समाजवादी ढंग की थी।"

परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण समाजवाद की भावना भारतीय जनता को हृदय से ग्राह्य है। इस व्यवस्था के प्रति उनमें स्वाभाविक आकर्षण है और इसलिये शान्तिमय समाजवाद का विकास भारत में एक प्राकृतिक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सम्भव हैं।

महात्मा गांधी का सर्वोदय

गांधी जी के सर्वोदयी समाज तथा मार्क्स के साम्यवादी समाज में कोई भी तात्त्विक अन्तर नहीं है। गाँधी जी ने स्वयं अपने को एक शान्तिवादी समाजवादी या साम्यवादी के रूप में स्वीकार किया था। गाँधी जी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समाजवाद के पक्ष में बढ़ती हुई सहानुभूति तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में परम्परा जन्य शान्तिवादी विकलता को अपने समाजवाद को साकार करने का साधन मानते थे। गाँधी जी मार्क्स के द्वारा की गई मानव-समाज की भौतिकवादी व्याख्या से केवल सहमत ही नहीं थे, बल्कि वर्ग-समाज में उत्पन्न सभी सामाजिक बुराइयों से आजन्म निरन्तर संघर्ष करते रहे। उन्होंने शोषक वर्ग के द्वारा श्रम की घृणा का विरोध किया तथा समाज में श्रम के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये स्वयं भी सभी प्रकार के परिश्रमों के द्वारा लोगों के सन्मुख आदर्श उपस्थित किया। श्रम के इस आदर्श से स्वयं एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हो सकती है तथा भावी समाज में सभी को जीने के लिये श्रम एक अनिवार्य नियम के रूप में सम्भव हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रम की ओर सभी वर्गों की समान रुचि हो। शोषण के आर्थिक रूप को समाप्त करने के लिये उन्होंने आर्थिक स्वावलम्बन का सिद्धान्त बनाया तथा सत्ता के शोषण का अन्त करने के लिये एक राज्य-विहीन पंचायती समाज की कल्पना की। गाँधी जी लिखते हैं, "केन्द्र में बीस व्यक्ति बैठकर सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। हरेक गाँव के लोगों को नीचे से उसे चलाना होगा। यदि भारत को महान राष्ट्र बनना है, तो सामुदायिक अनुशासन जरूरी है।"

कांग्रेस और समाजवाद

कांग्रेस प्रारम्भ से ही, जबसे उसे गाँधी जी का नेतृत्व मिला, एक

क्रान्तिकारी संगठन के रूप में क्रियाशील रही है। वह सम्पूर्ण जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करती रही है। नेहरू जी कांग्रेस को उसके ऐतिहासिक कार्य का याद दिलाते हुये 'कांग्रेसजन मार्ग दर्शिका' की भूमिका में लिखते हैं "बहुत दिन हुये हम कांग्रेस के सन्देश को गाँव-गाँव ले गये थे और देश में एक नई जान फैलाई थी। उस समय हम आपस में झगड़ते नहीं थे और काम के तरफ ध्यान रहता था।

अब आजादी मिली तो हम कुछ उस पुराने सन्देश को भूल गये, लेकिन समय आया है कि फिर से हम उसको याद करें और देश के कोने-कोने में पहुँचायें और उस पर अमल करें।"

इस प्रकार नेहरू जी कांग्रेस के गौरवमय अतीत की ओर संकेत करके उसे पुनः नये उत्तरदायित्व के लिये सम्बोधित करते हैं। महात्मा गाँधी ने कांग्रेस के बारे में लिखा है, "कांग्रेस में साधारण आदमी हैं। जिस राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का वे दावा करते हैं, इसके गुण-अवगुण उनमें भी हैं।....यही एक संस्था है जिसने विदेशी राज और शोषक का सबसे अधिक मुकाबला किया है।"

भारतीय जनता का साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कांग्रेस के ही नेतृत्व में संगठित हुआ। आजादी के पहले भारत में व्यवहारिक समाजवाद का अर्थ साम्राज्यवाद से टक्कर लेना तथा भारत की समस्त जनता का नेतृत्व करना था। कांग्रेस के उद्देश्य में समाजवादी तत्त्व कांग्रेस संविधान की धारा १ में दिये गये लक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है।

"भारतवासियों की भलाई करना और उन्नति करना तथा भारत में शान्तिमय और न्यायोचित उपायों से ऐसे सम्मिलित सहकारी स्वराज्य की स्थापना करना है, जो सबको समान अवसर और समान राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकार देने पर आधारित हो।"



भारतीय संविधान की घोषणा

भारतीय संविधान में वर्त्तमान व्यवस्था के कर्णधारों की समाजवाद के प्रति कृतसंकल्पता प्रतिलक्षित है। प्रस्तावना में ही उद्देश्यों की चर्चा है जिनमें "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय" तथा "सामाजिक सम्मान और अवसरों की समानता" भी सम्मिलित हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३८ में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों की व्याख्या की गई है जिसमें समाजवाद की रूपरेखा इन शब्दों में प्रकट होती है, "राज्य जनता के कल्याण के लिये यथाशक्ति चेष्टा करेगा और इसके लिये वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था को रूपान्वित कर उसकी रक्षा करेगा, जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक न्याय की सुरक्षा हो।" निर्देशक सिद्धान्तों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि "आर्थिक प्रणाली इस प्रकार की न हो कि उत्पादन के साधनों तथा धन का केन्द्रीकरण हो जाय और सामाजिक हित पर आघात पहुँचे।" संविधान के ३९ वें अनुच्छेद में राज्य से ऐसी नीति अपनाने को कहा गया है जिससे राष्ट्र के सभी नागरिकों को—चाहे वे स्त्री हों या पुरुष—जीविका-निर्वाह का समुचित तथा समान साधन प्राप्त हो और राज्य की नीति ऐसी हो कि समाज के भौतिक साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इतनी अच्छी तरह बँटा हो, जिससे सामूहिक हित के लिये उसका सर्वोत्तम उपयोग हो सके। अनुच्छेद ४० राज्य को 'ग्राम पंचायतें' संघटित करने की राय देता है तथा उन्हें ऐसे अधिकार और ऐसी शक्तियाँ प्रदान करने के लिये निर्देशित करता है जिससे कि स्वायत्त-शासन की इकाइयों के रूप में वे कार्य कर सकें। संविधान में सभी नागरिकों को काम देने का भी संकल्प है। ४३ वें अनुच्छेद के अनुकूल राज्य उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन के द्वारा या अन्य किसी साधन से खेती तथा उद्योग-सम्बन्धी और अन्य सभी

प्रकार के श्रमिकों के लिये 'काम, निर्वाह-मजदूरी तथा काम की ऐसी दशायें व्यवस्थित करेगा जिसमें वे शिष्ट जीवन-स्तर का उपभोग तथा साथ ही अपने अवकाश का उपयोग सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों में कर सकें। विशेष रूप से राज्य 'गाँवों में व्यक्तिगत या सामूहिक आधार पर गृह-उद्योगों' को विकसित करने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ४६ में समाज के पिछड़े वर्गों के हितों पर विशेष ध्यान देने का निर्देशन है। अनुसूचित जातियों तथा आदिवासियों के आर्थिक तथा सामाजिक हितों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय संविधान के ये तत्त्व स्पष्ट रूप से सामाजिक समानता का लक्ष्य रखते हैं।

भारत तथा पाकिस्तान दोनों साथ ही स्वतन्त्र हुये थे, लेकिन पाकिस्तान ने अपने विधान का मसविदा ८ जनवरी १९५६ को प्रकाशित किया है, जिसके अनुकूल पाकिस्तान को अब 'पाकिस्तान का इस्लामी जनतन्त्र' कहा जायगा। पाकिस्तान में कोई भी ऐसा कानून जारी नहीं किया जा सकेगा जो कुरान शरीफ तथा 'सुन्नाह' के इस्लामी वसूलों के विरुद्ध हो तथा राज्य का प्रधान केवल मुसलमान ही हो सकता है। किसी देश के संविधान से अपने राष्ट्र के संविधान की तुलना करके भारतीय संविधान के प्रगतिशील तत्त्वों को दिखलाने की मंशा नहीं है, किन्तु पाकिस्तान के संविधान की चर्चा के कुछ ऐतिहासिक कारण हैं। पाकिस्तान और भारत दोनों आजादी के पहले एक राष्ट्र के अभिन्न अङ्ग थे। दोनों के राजनीतिक आन्दोलन उस समय एक थे किन्तु सन् १९४७ के बाद उनकी प्रगति भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुई है, जिसे छिपा सकना संभव न था और इसलिये वे उन देशों के संविधानों में प्रस्फुटित हो गईं।

आवडी प्रस्ताव

आवडी प्रस्ताव कांग्रेस तथा राष्ट्र के इतिहास में एक प्रगतिशील

तथा गौरवपूर्ण अध्याय है। श्री ढेबर के शब्दों में 'इससे देश को एक नया विश्वास और एक नया मूल्य मिलता है। यह शोषणों से लड़ने और उन्हें निकाल बाहर करने की एक प्रतिज्ञा है; जो हमारे समाज की जीवन शक्ति का नाश करते रहे हैं।' 'आवडी प्रस्ताव' में देश के सम्मुख समाजवादी घोषणा करके श्री नेहरू ने भावी उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। प्रस्ताव की मौलिक भाषा निम्नाङ्कित है।

"कांग्रेस संविधान की धारा १ में दिये गये कांग्रेस के लक्ष्य की प्राप्ति और भारतीय संविधान की राज्यनीति के निर्देशक तत्त्वों व प्रस्तावना में लिखे उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिये योजना इस तरह बनाई जानी चाहिये कि एक ऐसी समाजवादी ढंग की व्यवस्था कायम हो सके जिसमें उत्पादन के मुख्य साधन समाज की मिल्कियत हों या समाज के काबू में हों और उत्पादन की रफ्तार बढ़ी हुई हो व राष्ट्र की सम्पत्ति का उचित बटवारा हो।"

'आवडी प्रस्ताव' में समाजवाद की बुनियादी नींव स्पष्ट झलकती है। भारतवर्ष में शान्तिमय समाजवाद की व्यवहारिक सफलता के लिये इसका वही महत्त्व है, जो सैद्धान्तिक दर्शन में कम्यूनिस्ट घोषणापत्र का है। प्रस्ताव की व्याख्या करते हुये कांग्रेस के महामंत्री श्रीमन्नारायण ने निम्नलिखित तत्त्वों की ओर संकेत किया है।

१—अवसर की समता और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय पर आधारित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना द्वारा समाजवादी ढंग की व्यवस्था का मूल उद्देश्य प्राप्त किया जायगा।

२—ऐसा समाज जाति, धर्म, पुरुष-स्त्री या सामाजिक और आर्थिक प्रतिष्ठा के भेदभाव से मुक्त होगा और उसमें स्वस्थ नागरिकों को काम और निर्वाह मजूरीपाने का अधिकार होगा। दूसरे शब्दों में, समाजवादी ढंग की व्यवस्था पूरी रोजगारी की हालत पैदा कर देगी।

३—उत्पादन के मुख्य साधनों और समाज की भौतिक सम्पत्ति पर,

राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में, राज्य का स्वाभिमान या राज्य द्वारा उन पर उचित नियन्त्रण रखा जायगा।

४—समाज अपनी अर्थ-व्यवस्था इस प्रकार बनायेगा कि जिसमें धन और उत्पादन के साधनों का ऐसा केन्द्रण न हो जिसमें सामूहिक हानि हो सकती हो।

५—देश के धन और कुल उत्पादन को रफ्तार को बढ़ाने के लिये व्यवस्थित रूप से प्रयत्न किये जायेंगे।

६—यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय धन का समुचित वितरण हो और मौजूदा आर्थिक विषमतायें कम-से-कम कर दी जायें।

७—सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का इस प्रकार का रूप-परिवर्तन शान्तिपूर्ण और प्रजातांत्रिक तरीकों से ही लाया जाना चाहिये।

८—समाजवादी ढंग की व्यवस्था के लिये यह जरूरी है कि ग्राम पंचायतों के रूप में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का निर्भीकता के साथ विकेन्द्रीकरण किया जाय और एक बड़े पैमाने पर छोटे व कुटीर उद्योग संगठित किये जायें।

इन तत्त्वों को क्रियान्वित कर देने पर समाजवाद का सर्वाङ्गीण विकास होगा। समाजवाद के सभी लक्षण इस प्रस्ताव में निरूपित किये गये हैं और इसका महत्त्व शान्तिमय समाजवाद के लिये ठोस, वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक पृष्ठभूमि तैयार करना है। समाजवादी परम्परा में यह नया प्रयोग है तथा भारत की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के अनुरूप है।



शांतिमय समाजवाद का नैतिक बल

"समाजवाद एक मनोहर शब्द है—समाजवाद में समाज के सभी सदस्य समान होंगे। यह समाजवाद गङ्गाजल की तरह निर्मल है, इसलिये इसे प्राप्त करने के लिये उसी तरह के निर्मल साधन भी जरूरी हैं। सत्य के आचरण से ही हम सत्य तक पहुँच सकते हैं। इसलिये केवल सच्चे, अहिंसक तथा पवित्र-हृदय समाजवादी ही भारत और विश्व में समाजवाद की स्थापना कर सकेंगे।"

—महात्मा गांधी

शान्तिमय समाजवाद के सैद्धान्तिक आधार की विवेचना में यह निर्विवाद सत्य के रूप में स्थिर हो चुका है कि समाजवादी व्यवस्था मानव-कल्याण का लक्ष्य रखती है; मानव का शोषण, चाहे वह मानव के द्वारा हो या अन्य भौतिक, सांस्कृतिक या आध्यात्मिक परिस्थितियों के कारण हो, इस व्यवस्था को सह्य नहीं। यही कारण है कि इसके स्वप्नद्रष्टा सदा ही भावी समाज की रूपरेखा में वर्ग, जाति तथा केन्द्रित सत्ता या केन्द्रित अर्थ की कल्पना नहीं करते। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि समाजवाद समस्त मानव-जाति के लिये सम्यक सुख की व्यवस्था का लक्ष्य है, तो फिर वैज्ञानिक समाजवाद के जनक मार्क्स 'मजदूरों या सर्वहारा की अधिनायकशाही' पर क्यों जोर देते हैं और मनुष्य समाजवादी अभियान से आतंकित क्यों है। यह प्रश्न बड़ा ही जटिल है तथा इसके अध्ययन से दिशा-नियन्त्रक और मनोरञ्जक फल प्राप्त किये जा सकते हैं। अवश्य ही कुछ भौतिक परिस्थि

तियाँ रही होगी जिन्होंने मार्क्सवाद तथा उसके स्वरूप को अनुप्राणित किया होगा।

मार्क्स तथा वर्ग-संघर्ष

ऐतिहासिक विश्लेषण से मार्क्सवाद इस तथ्य पर पहुँचता है कि 'आदिम साम्यवाद' के बाद मानव-इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना हुई और वही सारे शोषण, सम्पूर्ण मानव-दुखों की नींव है—और वह घटना है समाज का वर्गों में विभाजित हो जाना। मार्क्स के अध्ययन की प्रयोगशालायें पश्चिम के उन्नतिशील राष्ट्रों में थीं, जहाँ या तो औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी या तीव्र गति से प्रगति कर रही थी। मार्क्स ने अपने राजनीतिक जीवन का अधिक समय इङ्गलैण्ड में व्यतीत किया। मार्क्स के सामने जो मनुष्यता कराह रही थी, वह औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवादी व्यवस्था के कारण त्रस्त थी। पूँजीवाद के नये विप्लव ने एक नये वर्ग को जन्म दिया, जिसके हाथ में पूँजी और सत्ता दोनों केन्द्रित हो गई और समाज की सारी उत्पादक क्षमता का उपयोग इसी वर्ग को दृष्टि में रखकर किया जाने लगा। यह वर्ग छोटा था, अल्पमत का था—मुट्ठी भर लोगों के स्वार्थ-पोषण के लिये अगणित मजदूरों का शोषण हो रहा था। इस नये पूँजीवादी समाज में लोग दो, अधिक या कम, स्पष्ट वर्गों में बँट गये। एक ओर पूँजी-पतियों की तानाशाही थी और दूसरी ओर कराहती मनुष्यता, जो तत्कालीन बहुसंख्यक जनता—सर्वहारा वर्ग में अभिव्यक्त हो रही थी। एक ओर पूँजी के केन्द्रीकरण से पूँजीपतियों का तोंद फूल रहा था और दूसरी ओर मजदूरों का अस्थिपञ्जर था जो कार्य के बोझे से चरमरा रहा था। इन सामाजिक दृश्यों को महर्षि मार्क्स की आँखों ने देखा और मानव-प्रेम की पवित्र भावना उनके हृदय में व्याकुल हो उठी। उन्होंने शत-प्रतिशत ठीक समझा कि इस शोषण की

व्यवस्था को यदि समाप्त करने की क्षमता है, तो इस समाज के बहुसंख्यक मजदूरों में; यन्त्र के जटिल तन्त्र में शोषित सर्वहारा वर्ग को अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करना पड़ेगा और फिर अपनी अधिनायकशाही में समस्त मानव जाति के कल्याण की स्थायी व्यवस्था करनी होगी।

सर्वहारा ही क्यों ?

मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के हाथ में जो सत्ता केन्द्रित करने की कल्पना की, उसके कई स्वाभाविक कारण थे। समाजवाद बहुसंख्यक जनता का एक सामाजिक विज्ञान है। मार्क्स ने इतिहास के विश्लेषण से समाज के विकास के जो नियम स्थिर किये थे, उनके अनुकूल प्रत्येक नये उत्पादन के साधन के साथ एक नये वर्ग का जन्म पाया गया था और पूँजीवादी समाज के उदय तक यह वर्ग अल्पमत का ही था। इस वर्ग में बहुसंख्यक जनता को समा सकने की शक्ति न थी। मानव इतिहास की यह एक गौरवपूर्ण घटना थी कि सर्वहारा वर्ग उत्पादन के एक नये साधन के साथ जन्म लेता है और इतिहास में पहली बार उस वर्ग में बहुसंख्यक जनता ही नहीं, बल्कि समस्त मानव-जाति के कल्याणों को समा लेने की क्षमता होती है। यही कारण है कि मार्क्स ने इस वर्ग को ही नई क्रान्ति का नेता माना। श्रम के महत्त्व को स्वीकार करने के लिये आगामी युग की उन्होंने श्रम-युग के रूप में कल्पना की। 'श्रमिकों के समाज' के प्रति इस आस्था में उनके तथा महात्मा गाँधी के विचारों में कितनी दार्शनिक समता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि मार्क्स ने जिस दर्शन को स्थापित किया है, वह पूरी मानवता की मुक्ति के लिये एक मार्ग प्रशस्त करता है और न कि इने-गिने मजदूरों की हिंसक गुटबाजी का दर्शन है। मार्क्स के अध्ययन की सीमायें थी, लेकिन उनके दर्शन

को सीमाओं में बाँधना मार्क्सवाद के साथ कठोर अन्याय तथा महान गद्दारी होगी। कुछ लोग इस बात में बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी, कि "पहले औद्योगिक दृष्टि से बढ़े राष्ट्रों में क्रान्ति होगी, गलत सिद्ध हुई।" ये बेचारे मार्क्स को भी पैगम्बरों की पीढ़ी में बैठाना चाहते हैं, जिनके वाक्य अटल हों और वेदवाक्यों की तरह अकाट्य हों। मार्क्स की देन उनका दर्शन है, विचार-पद्धति है, सोचने का तरीका है और जो मानव-कल्याण की छटपटाती भावना से ओत-प्रोत है। यह विचार-दर्शन का एक जीवित शास्त्र है, जिसका प्रयोग जीवित परिस्थितियों के वैज्ञानिक विश्लेषण से गतिमान निष्कर्ष निकाल कर ही किया जा सकता है, और इसलिये यह अक्षम्य अपराध होगा कि हम मार्क्स को एक त्रिकालदर्शी, भविष्यवाणी करनेवाला जादूगर या पूर्णब्रह्म मान बैठें। मार्क्स अपनी परिस्थितियों में यह सोचने के लिये विवश थे—ऐसी बात नहीं है, उनका सोचना सही था, वैज्ञानिक था कि उस समाज की बहुसंख्यक जनता का मजदूर वर्ग ही क्रान्ति का नेतृत्व कर सकता है। जहाँ पर पूँजीवादी व्यवस्था विकसित होगी, वहाँ मजदूर वर्ग की संख्यात्मक तथा गुणात्मक शक्ति निश्चय ही नेतृत्व के योग्य होगी। लेकिन इस सूत्र का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि रूस जैसे कृषि प्रधान देशों में भी 'सर्वहारा की अधिनायक शाही' को ही समाजवाद के जीवित दर्शन में विश्वास करनेवाले अपनायेंगे। मार्क्स और लेनिन की व्याख्यायें लेनिन के प्रतिद्वन्दियों को भिन्न मालूम होती थीं, 'नई लोकशाही' की धारणा लकीर के फकीर कम्यूनिष्टों को समाजवाद का भ्रष्ट रूप समझ में आता था और इसलिये शान्तिमय समाजवाद भी गतिहीन विचारकों की समझ से परे है।

लेनिन तथा सोवियत क्रान्ति

समाजवाद के काल्पनिक स्वर्ग को कठोर सत्य में बदलने वाले

महान लेनिन, मार्क्स के कट्टर चेलों को पथभ्रष्ट सा दीखते थे। रूसी समाज में लेनिन ने अपनी कर्मभूमि बनाई थी और उनके कार्यों की आँख में रोशनी समाजवादी दर्शन से मिलती थी। मार्क्स के कट्टर शिष्यों को तो यह भी बड़ा कड़ुवा लगा होगा कि उनके गुरु की भविष्यवाणी को कर्मठ लेनिन ने भङ्ग कर दिया। सोवियत क्रान्ति के द्वारा उन्होंने मार्क्स की घोषणा को गलत सिद्ध किया। इस प्रकार के जड़-विचारकों की कमी लेनिन के समय में भी नहीं थी। मार्क्स ने 'सर्वहारा की अधिनायक शाही' पर जोर दिया था, लेकिन लेनिन इस फारमूला को जस का तस स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते थे; क्योंकि रूसी समाज पूर्णरूप से पूँजीवादी और औद्योगिक नहीं था, रूसी समाज में 'मजदूर' बहुसंख्यक नहीं थे; केवल मजदूरों के हित का समर्थन रूसी समाज में समस्त मानवता के कल्याण का द्योतक न था। रूस में परिवर्त्तन के लिये किसान भी उसी प्रकार तैयार था, जिस प्रकार मजदूर क्योंकि मजदूर और किसानों के स्वार्थ में सीधा संघर्ष नहीं था। ये दोनों दो शोषण व्यवस्था के शिकार थे, दोनों शोषण से मुक्ति चाहते थे— एक सामन्ती व्यवस्था का अन्त चाहता था और दूसरा भावी पूँजीवादी व्यवस्था का। इसलिये क्रान्ति के सहायकों पर विचार करते हुये लेनिन ने लिखा था।

"बुर्जुवा जनतांत्रिक क्रान्ति पर पूर्ण विजय प्राप्त करने की कार्य-नीति में केवल किसानों से ही सहयोग मिल सकता है क्योंकि इसके बिना किसान भूमि के मालिक नहीं बन सकते। इस प्रकार क्रान्ति में किसान मजदूरों का स्वाभाविक साथी है।" (सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी का इतिहास (अंग्रेजी संस्करण) ७७ पृष्ठ)

यदि किसानों को क्रान्ति का सहयोगी नहीं बनाया जाता तो मजदूरों के नेतृत्व का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। जारशाही को समाप्त करने

को सीमाओं में बाँधना मार्क्सवाद के साथ कठोर अन्याय तथा महान गद्दारी होगी। कुछ लोग इस बात में बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी, कि "पहले औद्योगिक दृष्टि से बढ़े राष्ट्रों में क्रान्ति होगी, गलत सिद्ध हुई।" ये बेचारे मार्क्स को भी पैगम्बरों की पीढ़ी में बैठाना चाहते हैं, जिनके वाक्य अटल हों और वेदवाक्यों की तरह अकाट्य हों। मार्क्स की देन उनका दर्शन है, विचार-पद्धति है, सोचने का तरीका है और जो मानव-कल्याण की छटपटाती भावना से ओत-प्रोत है। यह विचार-दर्शन का एक जीवित शास्त्र है, जिसका प्रयोग जीवित परिस्थितियों के वैज्ञानिक विश्लेषण से गतिमान निष्कर्ष निकाल कर ही किया जा सकता है, और इसलिये यह अक्षम्य अपराध होगा कि हम मार्क्स को एक त्रिकालदर्शी, भविष्यवाणी करनेवाला जादूगर या पूर्णब्रह्म मान बैठें। मार्क्स अपनी परिस्थितियों में यह सोचने के लिये विवश थे—ऐसी बात नहीं है, उनका सोचना सही था, वैज्ञानिक था कि उस समाज की बहुसंख्यक जनता का मजदूर वर्ग ही क्रान्ति का नेतृत्व कर सकता है। जहाँ पर पूँजीवादी व्यवस्था विकसित होगी, वहाँ मजदूर वर्ग की संख्यात्मक तथा गुणात्मक शक्ति निश्चय ही नेतृत्व के योग्य होगी। लेकिन इस सूत्र का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि रूस जैसे कृषि प्रधान देशों में भी 'सर्वहारा की अधिनायक शाही' को ही समाजवाद के जीवित दर्शन में विश्वास करनेवाले अपनायेंगे। मार्क्स और लेनिन की व्याख्यायें लेनिन के प्रतिद्वन्दियों को भिन्न मालूम होती थीं, 'नई लोकशाही' की धारणा लकीर के फकीर कम्यूनिष्टों को समाजवाद का भ्रष्ट रूप समझ में आता था और इसलिये शान्तिमय समाजवाद भी गतिहीन विचारकों की समझ से परे है।

लेनिन तथा सोवियत क्रान्ति

समाजवाद के काल्पनिक स्वर्ग को कठोर सत्य में बदलने वाले

महान लेनिन, मार्क्स के कट्टर चेलों को पथभ्रष्ट सा दीखते थे। रूसी समाज में लेनिन ने अपनी कर्मभूमि बनाई थी और उनके कार्यों की आँख में रोशनी समाजवादी दर्शन से मिलती थी। मार्क्स के कट्टर शिष्यों को तो यह भी बड़ा कड़ुवा लगा होगा कि उनके गुरु की भविष्यवाणी को कर्मठ लेनिन ने भङ्ग कर दिया। सोवियत क्रान्ति के द्वारा उन्होंने मार्क्स की घोषणा को गलत सिद्ध किया। इस प्रकार के जड़-विचारकों की कमी लेनिन के समय में भी नहीं थी। मार्क्स ने 'सर्वहारा की अधिनायक शाही' पर जोर दिया था, लेकिन लेनिन इस फारमूला को जस का तस स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते थे; क्योंकि रूसी समाज पूर्णरूप से पूँजीवादी और औद्योगिक नहीं था, रूसी समाज में 'मजदूर' बहुसंख्यक नहीं थे; केवल मजदूरों के हित का समर्थन रूसी समाज में समस्त मानवता के कल्याण का द्योतक न था। रूस में परिवर्त्तन के लिये किसान भी उसी प्रकार तैयार था, जिस प्रकार मजदूर क्योंकि मजदूर और किसानों के स्वार्थ में सीधा संघर्ष नहीं था। ये दोनों दो शोषण व्यवस्था के शिकार थे, दोनों शोषण से मुक्ति चाहते थे—एक सामन्ती व्यवस्था का अन्त चाहता था और दूसरा भावी पूँजीवादी व्यवस्था का। इसलिये क्रान्ति के सहायकों पर विचार करते हुये लेनिन ने लिखा था।

"बुर्जुवा जनतांत्रिक क्रान्ति पर पूर्ण विजय प्राप्त करने की कार्य-नीति में केवल किसानों से ही सहयोग मिल सकता है क्योंकि इसके बिना किसान भूमि के मालिक नहीं बन सकते। इस प्रकार क्रान्ति में किसान मजदूरों का स्वाभाविक साथी है।" (सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी का इतिहास (अंग्रेजी संस्करण) ७७ पृष्ठ)

यदि किसानों को क्रान्ति का सहयोगी नहीं बनाया जाता तो मजदूरों के नेतृत्व का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। जारशाही को समाप्त करने

के लिये किसान से मजदूरों का सहयोग एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। लेनिन ने आगे इस प्रश्न पर विचार करते हुये लिखा है,

"पहली बात तो यह है सर्वहारा वर्ग के लिए एक ऐसा सहयोगी होना आवश्यक है, जो जारशाही को अन्तिम रूप से समाप्त करने में सहायक हो और मजदूरों का नेतृत्व स्वीकार करे। 'नेतृत्व' की धारणा का ही यह तकाज़ा है क्योंकि नेता होने का कोई अर्थ ही नहीं यदि ऐसा कोई न हो जिसका नेतृत्व किया जा सके। यदि कोई मार्ग प्रदर्शन के लिये न हो तो मार्ग-प्रदर्शक का क्या काम ?....और दूसरी बात यह है कि नेतृत्व के लिये मजदूरों तथा पूँजीपतियों के संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिये भी किसानों को सहयोगी बनाना आवश्यक है।" और इसके बाद क्रान्ति की सफलता तथा सर्वहारा के विजय के लिये किसान-सहयोग को वे एक आवश्यक दशा मान लेते हैं;

"केवल सर्वहारा वर्ग ही जनतन्त्र के लिये लगातार संघर्ष कर सकता है और वह जनतन्त्र के संघर्ष में तभी विजय प्राप्त कर सकता है जबकि इस क्रान्तिकारी संघर्ष में उसे किसानों के जन-समुदाय का सहयोग प्राप्त हो।" (लेनिन सेलेक्टेड वर्क्स, प्रथम भाग पृष्ठ ३७६)

लेनिन के इन विचारों में हम देखते हैं कि उन्होंने किसानों को भी क्रान्ति का सहयोगी ही नहीं माना है, वल्कि रूसी क्रान्ति उनके सहयोग के बिना लेनिन की दृष्टि में असम्भव थी। इसी ग्रन्थ में ४०५ पृष्ठ पर वे यह भी बतलाने की कोशिश करते हैं कि किसान-वर्ग क्यों सच्चा सहयोगी होगा, "इन दशाओं की रोशनी में किसान जनता निश्चय ही क्रान्ति और जनतंत्र के पक्ष में हो जायगी तथा उसकी जिम्मेदारी लेगी क्योंकि क्रान्ति के विजय के बाद ही किसानों को कृषि-सुधारों के क्षेत्र में अभीष्ट वस्तुयें प्राप्त होगीं।"

इसके बाद हमें यह भी ध्यान देना पड़ेगा कि लेनिन किसानों के

इस सहयोग के प्रति क्रान्ति की सफलता के बाद भी कितनी इमानदारी दिखलाते हैं। क्रान्ति के बाद प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ क्रान्ति का पलड़ा समाप्त करने में तुल जायगीं, ऐसी स्थिति में क्रान्ति के विजय को स्थायी रूप देने के लिये लेनिन ने एक अन्तरिम क्रान्तिकारी सरकार की कल्पना की और उस सरकार को 'विजयी वर्गों की अधिनायक शाही' का रूप दिया। 'सर्वहारा की अधिनायक शाही' लेनिन के हाथों में पड़कर 'सर्वहारा तथा किसानों' की अधिनायकशाही हो गई। लेनिन इस ठोस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि क्रान्तिकारी सरकार जारशाही को सदा के लिये समाप्त करना चाहे, तो उसे निश्चय ही 'सर्वहारा तथा किसानों' का अधिनायकत्व स्थापित करना पड़ेगा।

सर्वहारा और किसान दोनों क्यों ?

लेनिन को क्रान्ति की व्याख्या में किसानों को भी सम्मिलित करने के लिये काफी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। उन्हें पश्चिमी-यूरोपीय समाजवादियों के इस सिद्धान्त की धज्जियाँ उड़ानी पड़ी और उस सिद्धान्त के रूसी समर्थक प्लेखनोव का भी तीव्र विरोध करना पड़ा, जो नगर तथा ग्राम के अर्द्ध सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी शक्ति को अस्वीकार करते थे। उनके दृष्टिकोण से तत्कालीन समाज में पूँजीपति तथा सर्वहारा वर्ग के अलावा और कोई तीसरी सामाजिक शक्ति न थी, जिनमें विरोधी तथा क्रान्तिकारी संयोग पनप सके। पश्चिमी यूरोप के समाजवादी यह विश्वास करते थे कि क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग अकेला होगा, उसके सहयोगी न होगें अर्थात् वह पूँजीपतियों तथा अन्य अर्द्ध सर्वहारा वर्गों के विरुद्ध अकेले संघर्ष करेगा। वे इस तथ्य को भूल जाते थे कि पूँजीपति केवल सर्वहारा को ही नहीं चूँसता, बल्कि साथ ही नगर तथा ग्राम के असंख्य अर्द्ध सर्वहारा लोग भी उसके शोषण के चक्र से मुक्त नहीं है और इसलिये वे क्रान्ति के दौड़ में सर्वहारा के सह-

योगी बन सकते हैं। इन विचारों के कारण पश्चिमी यूरोप के समाजवादी यह अनुमान करते थे कि रूस में समाजवादी क्रान्ति के लिये दशायें अभी पकी नहीं हैं और उन्हें पका तभी माना जाय जब सर्वहारा राष्ट्र में बहुमत बनाले, समाज में बहुसंख्यक हो जाय। ये विचार मेरे नहीं है, इन्हें स्टालिन ने सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी का इतिहास लिखते समय व्यक्त किया है।

अब प्रश्न यह होता है कि लेनिन ने किसानों को सर्वहारा का क्रान्ति-सहयोगी क्यों माना? तथा उन्होंने किसानों का भी नाम 'सर्वहारा की अधिनायक शाही में क्यों जोड़ दिया। ऊपर के तर्कों से यह तो साफ दिखलाई पड़ता है कि रूसी समाज में मजदूरों की संख्या अल्प थी, उनका बहुमत न था और सच्चे माने में समाजवाद की स्थापना तभी सम्भव है जब कि समाज का बहुमत उसे स्वीकार करे, तथा उसे साकार करने के लिये कृत संकल्प हो जाय। लेनिन 'समाजवाद' के इस रहस्य से परिचित ही नहीं थे, बल्कि वे इसे समाजवाद की बुनियाद समझते थे और इसीलिये उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि रूसी क्रान्ति तभी सम्भव है जब रूसी किसान इस क्रान्ति के सक्रिय सहयोगी बन जाँय। किसान ही क्या लेनिन उस सभी जनता को, जो पूँजीवादी व्यवस्था से त्रस्त थी, क्रान्ति का साथी मानते थे। लेनिन की यह मान्यता रूसी अवस्थाओं के लिये सही थी, उनका यह निश्चय शत-प्रतिशत समाजवादी था और मार्क्सवादी दर्शन में उतना ही सत्य था जितना मार्क्स का पूँजीवादी समाज में यह सोचना कि इस शोषण-व्यवस्था का अन्त सर्वहारा वर्ग ही करेगा क्योंकि सर्वहारा उस समाज में अधिक संख्या में था। लेनिन ने क्रान्ति में किसानों का सहयोग लेकर समाजवाद को कमजोर नहीं बनाया, समाजवादी दर्शन की दुर्बलता नहीं प्रकट की, बल्कि रूसी अवस्थाओं के जीवित सत्य को स्वीकार किया, तथा समाजवाद के लिये ठोस, व्यवहारिक तथा सफल मार्ग प्रशस्त

किया। लेनिन के इन्हीं क्रान्तिकारी विचारों का फल रूस में समाजवाद की स्थापना थी।

माओ तथा चीनी क्रान्ति

माओ-त्से तुङ्ग ने समाजवादी क्रान्ति की और विशाल व्याख्या की। चीनी परिस्थितियाँ रूसी परिस्थितियों से भी भिन्न थीं और लेनिन का नया सिद्धान्त 'सर्वहारा तथा किसानों की अधिनायक शाही' भी इन परिस्थितियों के लिये अपर्याप्त था। माओ की प्रयोगशाला में एक नये वाद का जन्म अवश्यम्भावी हो गया। चीन का समाज अर्द्धसामन्तवादी था तथा उसका रूप अर्द्ध उपनिवेश का था। चीनी जनता के मौलिक शत्रु चीन के पूँजीपति न थे, बल्कि साम्राज्यवादी थे जो समस्त चीन का शोषण कर रहे थे। उन साम्राज्यवादियों के साथ कुछ देशी पूँजी-पतियों ने गठ-बन्धन कर लिया था और इसलिये चीनी क्रान्ति का उद्देश्य साम्राज्यवादियों तथा देशी गद्दार सामन्तों और पूँजी-पतियों को समाप्त करना था। देश की अधिक जनता क्रान्ति के सहयोगी के रूप में थी। सर्वहारा की संख्या तो पचास करोड़ चीनी जनता में दाल में नमक की तरह थी, इसलिये माओ ने लेनिन के दर्शन के अनुकूल किसानों को तो सम्मिलित किया ही, मध्यमवर्ग, निम्न पूँजी-पति वर्ग, अर्द्ध सर्वहारा वर्ग, खेतिहर मजदूर तथा राष्ट्रीय पूँजी-पति वर्ग तक को क्रान्ति के सहयोगी की परिभाषा में घसीटा तथा उनकी क्रान्तिकारी क्षमता का चीनी समाजवाद की सेवा में उपयोग किया माओ के ये विचार तर्क-हीन तथा गतिहीन भारतीय प्रगतिवादियों को बहुत खले थे, उन्होंने माओ की इस समाजवादी नवीनता को देखकर उन्हें पथ-भ्रष्ट की संज्ञा दी थी और यही कारण है कि चीनी क्रान्ति की सफलता के बाद उन्होंने माओ से अपने अधिकारिक पत्र 'कम्यू-निष्ट' में क्षमा-याचना की। इसमें क्षमा देने या लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता; यह तो क्रान्तिकारी समझ की बलिहारी है ।

चीनी क्रान्ति के समय जो परिस्थितियाँ बदली थीं, उन्हें स्वयं माओ ने अपनी पुस्तक 'चीन की नई लोकशाही' में लिखी हैं। वे हैं :

"चीनी पूँजीवादी-जनतांत्रिक क्रान्ति में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तथा सोवियत समाजवादी राज्य की स्थापना से एक महान परिवर्त्तन उपस्थित हुआ है। दुनिया के छठे भूभाग पर समाजवाद की विजय ने एक नया अध्याय जोड़ा है। इन घटनाओं के पहले वह क्रान्ति पुरानी पूँजीवादी क्रान्तियों की तरह थी, लेकिन अब वह एक नई क्रान्ति बन गई है तथा विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति' का ही एक अभिन्न अङ्ग हो गई है। सोवियत समाजवादी राज्य की स्थापना से विश्व में पूजीवादी शक्तियों का जोर कम हो गया है तथा उपनिवेश और अर्द्ध-उपनिवेश भी अब सोवियत की सक्रिय सहानुभूति के कारण मुक्ति-आंदोलन को तीव्र कर रहे हैं। साम्राज्यवादी इस राजनीतिक प्रक्रिया से अप्रसन्न हैं तथा इसका यथा शक्ति विरोध कर रहे हैं। सोवियत समाजवादी क्रान्ति की विशेषताओं का उल्लेख स्टालिन ने इस प्रकार किया है।"

(१) राष्ट्रीय प्रश्न के क्षेत्र को इसने विस्तृत कर दिया है और एक विशेष राष्ट्रीय दमन के विरोध में युद्ध करने के स्थान पर अब इसका रूप विशाल हो गया है। अब यह हमारे सामने साम्राज्यवाद से उपनिवेश तथा अर्द्ध उपनिवेश को मुक्त करने के सामान्य प्रश्न के रूप में उपस्थित है।

(२) इसने महान क्रान्तिकारी अवसरों को जन्म दिया है तथा क्रान्तिकारी लक्ष्यों तक पहुँचने का उचित रास्ता हमारे लिये प्रस्तुत किया है और इस प्रकार पूर्व तथा पश्चिम में साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये औपनिवेशिक क्रान्ति की संभावनायें स्पष्ट की है।

(३) इस प्रकार इसने पश्चिम के समाजवाद तथा पूर्व के गुलाम राष्ट्रों के बीच एक पुल बनाया है और विश्व साम्राज्यवाद के विरुद्ध

क्रान्तियों का एक नया दर्शन उपस्थित किया है (जे० वी० स्टालिन अक्टूबर रिवलूशन एण्ड नेशनल क्वेश्चन (लारेन्स एण्ड विशर्ट १६४७ पृ० ७६)

यह तो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का महान परिवर्त्तन है। चीनी समाज के आन्तरिक दशा का अनुमान हम माओ के द्वारा किये गये 'पूँजी-पति वर्ग' के मूल्याङ्कन से कर सकते हैं। जब वे चीनी पूँजीपतियों में भी कुछ क्रान्तिकारी तत्त्व पाते हैं, तो अन्य वर्गों की क्रान्तिकारी क्षमता में क्या सन्देह हो सकता है। उन्होंने यह 'चाइनाज न्यू डेमोक्रेसी' (जनप्रकाशनगृह-बाम्बे,) में पृष्ठ ६ पर स्पष्ट भाषा में लिखा है;

"चीनी पूँजीपति वर्ग प्रकृति में उपनिवेशीय तथा अर्द्ध उपनिवेशीय है, वह सामाज्यवादियों से त्रस्त है और इसलिये साम्राज्यवाद के युग में भी कुछ कालतक तथा कुछ मात्रा में उसमें क्रान्तिकारी तत्व होते हैं और वह 'साम्राज्यवाद' तथा देशी युद्धलोलुप सरकार की नौकरशाही के विरुद्ध क्रान्तिकारी कदम उठाने की क्षमता रखता है।"

पूँजी-पति भी क्यों ?

इस मूल्याङ्कन में हम पूँजी-पतियों को भी कुछ सीमा तक क्रान्ति-कारी पाते हैं। समाजवाद के अन्धे पालक के लिये यह तथ्य समझ से परे है, क्योंकि जिस पूँजी-पति वर्ग के विरुद्ध मार्क्स के वर्ग-संघर्ष का सारा दर्शन आधारित है, जो पूँजी-पति समाज के शोषण तथा मानवता को कलुषित करने के लिये उत्तरदायी हैं, उनमें भी क्रान्ति-कारिता पाना इनके लिये पागलपन के अलावा कुछ नहीं है। किसानों को या मध्यमवर्ग को जबतक क्रान्तिकारी की संज्ञा दी गई थी, तबतक तो इनके सहन की बात थी, लेकिन माओ ने जब पूँजी-पति को भी क्रान्तिकारी बतलाया, तो वे उबल पड़े।

इस प्रकार चीनी क्रान्ति को माओ ने विश्व-समाजवाद का एक अंग

बतलाया तथा क्रान्ति में सामन्तों तथा थोड़े से गद्दार पूँजी-पतियों को छोड़कर सभी वर्गों को सहयोगी बना लिया और क्रान्ति के बाद उन्होंने लेनिन की तरह केवल 'सर्वहारा तथा किसानों के अधिनायक शाही' की ही कल्पना नहीं की, बल्कि 'जनता की अधिनायक शाही या जनतान्त्रिक लोकशाही' का विचार-दर्शन उपस्थित किया। 'नई लोकशाही' में सर्वहारा, किसान, अर्द्ध सर्वहारा, मध्यमवर्ग, निम्न पूँजी-पति तथा राष्ट्रीय पूँजी-पति सभी का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया। चीन के इस नये दर्शन को स्वीकार करना एक टेढ़ी खीर है क्योंकि इसके मूल्याङ्कन से सहमत होकर अपनी गतिहीनता को छिपाना असम्भव है। चीनी क्रान्ति इस बात का द्योतक है कि समाजवाद की कल्पना परिस्थितियों से रूपान्तरित होती रहती है। माओ ने मार्क्स के दर्शन को अपनाया, उन्होंने लेनिन से क्रान्ति-पद्धति तथा कार्य नीति की शिक्षा ली, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे लेनिन या मार्क्स के आदेशों का बिना देश-काल और परिस्थिति पर विचार किये ही अनुकरण करते। पूँजी-पतियों को न तो मार्क्स ने और न लेनिन ने ही कहीं भी क्रान्तिकारी कहा है लेकिन यदि चीनी परिस्थितियों में माओ को पूँजी-पतिवर्ग में एक क्रान्तिकारी क्षमता समाजवादी कसौटी पर मिलती है, तो क्रान्तिकारी सच्चाई का यह तकाजा है कि उस क्षमता को सामने ही केवल न रखा जाय, प्रत्युत महान समाजवादी क्रान्ति की अवस्थाओं में उसका सर्वोत्तम सदुपयोग किया जाय। माओ ने आलोचनाओं के बौछार में भी वैसा ही किया क्योंकि वे मार्क्सवाद के एक सजीव दार्शनिक हैं, न कि कट्टर पुरोहित।

मार्क्स से माओ तक

वैज्ञानिक समाजवाद के दार्शनिक विकास की सीढ़ियाँ पूरी तौर पर स्पष्ट हो जाती हैं, यदि मार्क्स से लेकर माओ तक मान्यताओं का

गम्भीर अध्ययन किया जाय। मार्क्स को एक पैगम्बर की तरह पूजने-वाले एक ही विचार-धारा के विकास की इन सीढ़ियों को भिन्न-भिन्न वाद समझ बैठते हैं तथा उनकी आत्मा में प्रारम्भ से अन्त तक दौड़ती हुई दार्शनिक एकरूपता को नहीं देख पाते। लेनिन को जबतक सफ-लता न मिली, वे उनका विरोध करते रहे। माओ ने जब तक चीनी क्रान्ति को सम्पादित न किया, उनको पूँजीपतियों का दलाल बनाते रहे। इनकी समझ से जो कुछ मार्क्स ने कहा है, उसका अक्षरशः पालन ही मार्क्सवाद के प्रति सच्ची भक्ति है। एक कम्यूनिष्ट भाई को मैं इन विचार दर्शनों के विकास की अवस्थाओं को समझाते-समझाते हार गया, किन्तु इनके दार्शनिक साम्य की धारणा उनके दिमाग में न अटसकी क्योंकि वे कहते थे मार्क्स, लेनिन और माओ तीनों में कुछ भी अन्तर नहीं है, तीनों कम्यूनिस्ट घोषणापत्र के अनन्य भक्त हैं और इस प्रकार परिस्थितियों तथा मान्यताओं के गतिशील प्रकृति को ही वे अस्वी-कार कर रहे थे। यही बेचारे एक समय माओ को सुधारवादी कहा करते थे और आज उन्हें मार्क्स और माओ के बीच कोई अन्तर नहीं दीखता। वास्तव में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रति उनकी जड़ता के कारण ही उन्हें इन तथ्यों का विकास स्वीकार नहीं। उनका मार्क्सवाद एक कट्टर धर्मशास्त्र है जिसमें कोई आलोचना न तो वे सहन कर सकते हैं और न कोई नई परिस्थियों का प्रभाव ही उस पर पड़ने देना चाहते। मार्क्सवादी दर्शन को अच्छी प्रकार न समझ सकने के कारण मार्क्स-वाद की उनकी धारणा भी निर्जीव, गति-हीन तथा अनन्त हो जाती है। मैंने उनसे विनोद में कहा लेकिन एक बात यह तो सोचो भाई, ऐंजिल्स लेनिन, स्टालिन और माओ सभी मार्क्स के सच्चे भक्त थे तो उन सभी लोगों ने मार्क्सदादा की ही तरह दाढ़ी क्यों नहीं रखी? मार्क्स की दाढ़ी सबसे बड़ी थी, एंजिल्स ने इस परम्परा में अपनी दाढ़ी छोटी करके एक क्रान्ति की, लेनिन कार्य में अधिक उलझे रहते

थे, इसलिये उन्होंने अपनी दाढ़ी और छोटी कर दी। स्टालिन ने तो दाढ़ी की परम्परा ही समाप्त कर दी, लेकिन उनकी बड़ी मूछों से अभी भी मार्क्सवादी परम्परा के चिन्ह अवशेष थे और माओ ने तो सारी क्रान्तिकारिता पर दाढ़ी मूँछ सभी सफा करके पानी फेर दिया और इसलिये शायद आपलोग उनसे अधिक अप्रसन्न थे। निश्चय ही वे क्रोधित हुये होंगे, पर यह ध्रुव सत्य है कि मार्क्स से माओ तक क्रान्ति की धारणायें बदली है। जैसा कि अध्ययन से मैंने स्पष्ट कर दिया है मार्क्स की 'सर्वहारा अधिनायकशाही' लेनिन के प्रयोगालय में 'सर्वहारा और कृषक अधिनायकशाही तथा माओ की प्रयोगशाला में 'नई लोक-शाही' में परिणत हो गई। इस परिवर्त्तित मान्यता का कोई-न-कोई अवश्य कारण है और यह कारण सरलतापूर्वक मान्यताओं की परिस्थि-तियों में खोजा जा सकता है। मार्क्स, लेनिन तथा माओ के अध्ययन के क्षेत्र भिन्न थे, उनकी कर्मभूमि अलग-अलग थी, उनके क्रान्ति-दर्शन की परिस्थियियों में महान अन्तर था, लेकिन उनके सोचने का तरीका एक था, उन सभी के हृदय में बहुसंख्यक जनता का हित परम लक्ष्य था, वे सभी पीड़ित मानवता को शोषण मुक्त करना चाहते थे और इसीलिये 'सर्वहारा की अधिनायकशाही' को बलपूर्वक चाहे रूसी समस्यायें हो था चीनी—सभी में उन्होंने बैठाने की कोशिश नहीं की बल्कि परिस्थिति के परिवर्त्तन के साथ ही उन्होंने अपनी व्याख्या को भी विस्तृत किया। बहुसंख्यक जनता के हित ने उनका ध्यान मजदूरों की सीमा में संकुचित न होने दिया और इसीलिये उन्होंने बहुसंख्यक जनता के स्वार्थों पर प्रहार करनेवाली ताकतों से पहले सङ्घर्ष किया तथा अपनी इस क्रान्ति में सभी पीड़ितों को उन्होंने अभिन्न सहयोगी बनाया। माओ की पुस्तक, 'आन कन्ट्रैडिक्शन' इस विषय पर एक अमूल्य विचार-दर्शन उपस्थित करता है। उनका कहना यह है कि मार्क्सवादियों का यह क्रान्तिकारी कर्त्तव्य है कि वे अपने कार्यक्षेत्र में

'प्रधान विरोध' को परख लें तथा इस प्रकार उसी को प्रधानता दें, अन्य छोटे विरोधों के हल में शक्ति का अपव्यय न करें क्योंकि 'प्रधान विरोध' के हल में अन्य शक्तियाँ सहयोग करेंगी तथा छोटे विरोध संघर्ष में स्वयं समाप्त हो जाँयगें। चीन के 'महान विरोधी' शक्तियों में एक ओर था साम्राज्यवाद तथा उसके सहयोगी और दूसरी ओर थी चीनी जनता तथा उसके सहयोगी और चीनी जनता के प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य था अपने 'प्रधान विरोधी' को समाप्त करना अर्थात् साम्राज्य-वादियों से निरन्तर सङ्घर्ष करते रहना जबतक कि उनका पूर्ण मूलोच्छ-दन न कर दिया जाय। मार्क्स से माओ तक जो विकास की यह सीढ़ी है, उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि समाजवाद का नैतिक बल समस्त जनता की सेवा में निहित है और परिस्थितियों के अनुकूल अवस्थायें भी रूपान्तरित हो सकती हैं।

गांधी और शान्तिमय समाजवाद

भारत में परिस्थितियाँ कुछ और थीं और उन्होंने गांधीवाद का दर्शन उपस्थित किया। भारत की राजनीति में समाजवादी विकास के समय भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ समाजवाद के पक्ष में तथा साम्राज्य-वाद के विपक्ष में थीं। सोवियत अक्टूबर क्रान्ति ने भारतीय समाजवाद को भी प्ररणा दी है तथा साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व-समाजवाद ने शान्ति का नारा अपना लिया था। समाजवाद की स्थापना से उसका नैतिक बल बढ़ गया था। भारत में शान्ति की अद्वितीय परम्परा है जो यहाँ के सामाजिक जीवन की सभी दिशाओं में दृढ़तापूर्वक जम गई है। भारत में साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष था और इसलिये साम्राज्यवादी शोषण का चक्र यहाँ की समस्त जनता के सन्मुख था, यहाँ के पूँजीपतियों का विदेशी साम्राज्यवादियों के स्वार्थों से सीधा टक्कर था। मानव-कल्याण के अनन्य पुजारी गांधी ने भारतीय समाज के 'प्रधान द्वन्द्व' को

पहचाना और इसलिये सम्पूर्ण भारतीय जनता को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में क्रियाशील बना दिया। भारत के समाजवाद की विशेषता क्रान्ति तक पहुँचने का शान्तिमय साधन है जिसके प्रयोग में गांधी को महान सफलतायें मिली हैं! गांधी जी का सर्वोदय शांतिमय समाजवाद की चरम सीमा है, जिसमें वे पूर्ण वर्ग विहीन तथा शोषण विहीन समाज की कल्पना करते हैं। समाजवाद के पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का विकास, भारतीय जनता का साम्राज्यवादियों से प्रत्यक्ष संघर्ष, भारतीय परम्परा की विशेषतायें, शांतिमय समाजवादी व्यवस्था में सभी इन्सानों के अस्तित्व की सुरक्षा आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने भारत में शान्तिमय समाजवाद की रूपरेखा तैयार की।

गांधी जी शोषित जनता के प्रतिनिधि थे। वे सदा निम्न वर्ग की जनता के हितों को ध्यान में रखकर निर्णय किया करते थे। उनके समाजवादी विज्ञान की आधारशिला, मार्क्स, लेनिन और माओ की तरह 'बहुसंख्यक जनता' के हितों पर आधारित है और इसलिये गाँधी से भी 'मजदूरों की अधिनायक शाही' की आशा रखना भारतीय परिस्थितियों की रोशनी में महान मूर्खता होगी। भारतीय क्रान्ति में चीनी क्रान्ति की तरह क्रान्ति के सहयोगियों का क्षेत्र विस्तृत था और इसलिये गांधी जी ने स्वराज्य की कल्पना की जिसमें भारत के बहुमत का प्रतिनिधित्व हो। नेहरू जी ने 'आवडी प्रस्ताव' पर विचार व्यक्त करते हुये कांग्रेस पार्लियामेन्टरी पार्टी की बैठक में २२-२-५५ को भाषण में कहा था,

"इस प्रस्ताव का समर्थन करने वाले हर आदमी के मन में घुसना तो मेरे लिये मुश्किल है। लेकिन कार्य समिति की ओर से, जिसने इस प्रस्ताव पर विचार किया, मैं यह कह सकता हूँ कि उन्होंने यह फैसला पूरी संजीदगी, पूरी सचाई और पूरे विश्वास के साथ किया है। उनके लिये आपके या हमारे लिये, दर असल यह एक मायने में नीति-परि-

वर्त्तन न था क्योंकि बहुत पहिले से, कहना चाहिये करीब एक चौथाई सदी से और एक मायने में, कांग्रेस में गांधी जी के आने के बाद से, कांग्रेस का दृष्टिकोण बहुत कुछ समाजवादी ही रहा है। मैंने 'बहुत कुछ' वैज्ञानिक अर्थ में नहीं कहा और गांधी जी तो शुरू से ही सामाजिक पैमाने में सबसे नीचे और सबसे कम अधिकार प्राप्त लोगों के प्रतीक थे और उन्होंने हमें बतलाया कि हर काम जो हम करते हैं, इस कसौटी पर जाँचा जाना चाहिये कि देश के गरीब से गरीब, और सबसे ज्यादा मोहताज या सबसे कम अधिकार प्राप्त लोगों पर उसका क्या असर होता है ?''

('समाजवादी व्यवस्था की ओर' (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, नई दिल्ली; पृ० २३–२४)

समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्त पर गाँधीवादी दर्शन आधारित है। सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिये वह एक वैज्ञानिक समाजवाद की व्यवस्था प्रस्तुत करता है। हमें यह देखना है कि इस शान्तिमय समाजवाद में नैतिक बल कितना है और उसकी शक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न वर्गों पर क्या पड़ती है तथा उसके लक्ष्य और साधन की एकरूपता का उसकी सफलता पर क्या प्रभाव है।

मानसिक क्रान्ति

शान्तिमय समाजवादी क्रान्ति की एक स्वाभाविक विशेषता यह है कि वह अपने सारे दर्शन को मानव की सृजनात्मक प्रवृत्तियों की आस्था पर केन्द्रित करता है। मनुष्य को बुनियादी तौर पर वह सामाजिक प्राणी मानता है। इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या उसके लिये भी एक प्रत्यक्ष सत्य है और इसलिये वह साम्राज्यवादी शिकञ्जे से मुक्त होने के लिये निरन्तर संघर्ष करता है, इस संघर्ष में भारत की कोटि-कोटि जनता मुक्ति आन्दोलन में सहयोगी, सहयात्री तथा हमराही

के रूप में एक निकट सम्बन्ध में बँध जाती है। क्रान्ति के पहले ही ये लोग कुछ ठोस समाजवादी निश्चय की घोषणा करते हैं तथा क्रान्ति के बाद भी इस निश्चय पर अटल रहना ही इनकी इमानदारी का प्रश्न बन जाता है। गाँधीवाद किसी भी क्रान्ति के पहले उस क्रान्ति के लिये लोगों के दिमाग को तैयार करके एक दृढ़ आधार बनाने का लक्ष्य रखता है। प्रश्न यहाँ पर यह उठेगा कि क्या पूँजी-पति या शोषक वर्ग क्रान्ति के बाद अपनी सत्ता को शान्तिमय तरीकों से जनता की सत्ता में परिवर्तित होने देगा। अभी तक मार्क्सवादी मान्यता के अनुकूल सर्वहारा और उसके सहयोगियों को सत्ता हथियाने के लिये हिंसक क्रान्ति, बल प्रयोग, सशस्त्र संघर्ष अनिवार्य आवश्यकतायें हैं। यहाँ पर कुछ विचारों पर ध्यान देना चाहिये। जब कि मार्क्स से माओ तक क्रान्ति की मान्यताओं में इतना महान परिवर्त्तन हुआ है, कि माओ ने चीनी परिस्थितियों में पूँजी-पति वर्ग को भी क्रान्तिकारी पाया है, तब क्या भारत में शान्तिमय समाजवाद को केवल इसलिये असम्भव मान लिया जाय, कि अभी तक के साम्यवादी दर्शन की मान्यताओं के अनुरूप यह नहीं है। साम्यवादी दर्शन मानव कल्याण की भावनाओं पर आधारित होने के कारण, वैज्ञानिक समाजवाद से अनुप्राणित होने के कारण एक शाश्वत सत्य है, लेकिन उसके अध्ययन के फल, उसकी कार्य पद्धति तथा उसकी मान्यतायें बदली जा सकती हैं, या यह कहा जाय कि उनके परिस्थितियों के अनुकूल न बदलने का अर्थ होगा मार्क्सवाद को जड़वाद में बदलना। इस प्रकार भारत में एक नई मान्यता केवल सम्भव ही नहं है, बल्कि स्वाभाविक भी है।

भारत की स्वाधीनता

प्रश्न यह उठता है कि शान्तिमय तरीकों में विश्वास सहज ही में

क्यों कर लिया जाय। तीसरे विश्व महायुद्ध को रोकने के लिये सोवियत नेता क्यों अपनी आस्था बराबर विश्व की जनता के शान्ति-प्रेम में देखते हैं? शान्ति के संघर्ष के लिये हस्ताक्षर आन्दोलन का क्या बल है? भारत के कम्यूनिष्ट शान्ति के लिये की गई अपील पर जनता का हस्ताक्षर पाने के लिये रात दिन एक कर देते हैं, लेकिन उसके पीछे एक महान दार्शनिक सत्य की अवहेलना करते हैं। इसीलिये जब भारत आजाद हुआ तो इन लोगों ने नारा लगाना प्रारम्भ किया;

"यह आजादी झूठी है", क्योंकि शान्तिमय ढंग से परिवर्त्तन इनकी आँखों ने विश्व के इतिहास में कहीं नहीं देखा था। आज विश्व समाजवाद के नेता क्रुश्चेव, बुलगानिन, माओ तथा टीटो तक इस कटु तथ्य को स्वीकार करने में नहीं हिचकते। वे यह मानते हैं कि भारत एक पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र है और फिर क्या यह मान्यता वे अस्वीकार करेंगे कि भारत की स्वतन्त्रता शान्तिमय साधनों से प्राप्त हुई है। यह दूसरी बात है कि इसकी दशाओं (Factors) का विश्लेषण किसी प्रकार किया जाय। आलोचना में अभ्यस्त लोग कह बैठेंगे कि इसमें गाँधी की क्या बात? यह तो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का दबाव था कि अँग्रेज भारत छोड़कर चले गये। आखिर आप यह क्यों सोचते हैं कि गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के प्रति सजग नहीं थे और उनमें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के समाजवादी पक्ष या साम्राज्य-वादी कमजोरी के उपयोग करने की क्रान्तिकारी समझ न थी। गाँधी ने भारतीय जनता को एक महान आन्दोलन में गतिशील कर दिया था, भारत में कई करोड़ इन्सानों की आह, शोषण के विरुद्ध लड़ने की उनकी प्रतिज्ञा और इतनी मानव-आत्माओं की गतिशीलता का भी तो कुछ प्रभाव रहा होगा, इस महान बल को न देख सकना समझ की कलुषित सीमा है।

क्रान्ति के साथी

अब प्रश्न यह उठता है कि क्रान्ति के दौड़ान में कन्धे-से-कन्धे मिलाकर कार्य करनेवाले लोगों में क्या किसी पारस्परिक भावना का उदय नहीं होगा, क्या इस लम्बी और संघर्षमय मित्रता में वे केवल काठ के पुतलों की तरह, बेजान मशीनों की तरह कार्य करेंगे और क्रान्ति की समाप्ति पर एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाँयगे। जहाँ तक एक मानव दृष्टिकोण का प्रश्न है—यह सम्भव नहीं। विपत्ति के साथी ही असली साथी होते हैं और इसलिये भारत के विभिन्न वर्गों के समाजवादी लक्ष्यों की एकरुपता स्थापित हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्रान्ति के पूर्व समाजवादी निश्चयों की घोषणा करनेवाली भारतीय जनता अपने निश्चयों से बँधी ही नहीं है, प्रत्युत उसे कार्यान्वित करने के लिये उसमें स्वाभाविक समाजवादी नैतिक बल भी है।

शान्तिमय समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य मानव-मूल्यों को इस प्रकार विकसित करना है कि उनमें यथा संभव समानता स्थापित हो। सामन्ती तथा पूँजीवादी समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों के मनुष्यों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मूल्यों में बहुत अन्तर होता है और कोई भी सच्चा समाजवादी इसे सहन नहीं कर सकता। प्रश्न यह है कि इन मूल्यों में समानता लाई कैसे जाय? ऊँचे मूल्यों को नीचा करना होगा तथा नीचे मूल्यों को ऊपर उठाना पड़ेगा और शांतिवादी तरीकों से यह क्रिया सम्भव है, यद्यपि इसमें समय अधिक लग जाता है। शांतिमय समाजवाद इन मूल्यों को इतना बलपूर्वक नहीं हिलोरता कि उन मनुष्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय, बल्कि नये मूल्यों के लिये वह सभी को तैयार करता है। मानसिक तत्परता हो जाने पर इन मूल्यों के रूपान्तरण में न तो अधिक शक्ति लगती है और न अधिक समय।

नये मूल्यों को स्वीकार कराने के लिये समाजवाद में सभी प्रकार के वर्त्तमान तत्त्वों को आत्मसात् करने की क्षमता होनी चाहिये। संक्षेप में यदि आज पूँजीपतियों को यह विश्वास हो जाय कि नवीन समाजवादी व्यवस्था में उनके जीवन की सुरक्षा होगी, उनकी मानवीय आवश्यकतायें पूरी की जायगीं तो शांतिमय समाजवाद की दृष्टि में वे लोग भी नये मूल्यों को स्वीकार ही नहीं करेंगे, बल्कि उनका स्वागत करेंगे।

प्रतिक्रान्ति और विदेशी हस्तक्षेप

शान्तिमय समाजवाद में हिंसक क्रान्ति की तरह चकाचौंध नहीं, आतङ्क नहीं और समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये सभी सामाजिक तत्त्वों को पचाने की शक्ति होती है। समाजवाद की स्थापना के पूर्व यदि कुछ वर्ग इसकी भयावह कल्पना से आतंकित हो, तो इसमें तो कुछ स्वाभाविकता है किन्तु लम्बे अरसे तक साथ-साथ संघर्ष करने के बाद यदि कोई वर्ग प्रतिक्रान्ति की तैयारी करता है, तो यह समाजवाद की दुर्बलता का द्योतक है। शांतिमय समाजवाद में लोगों को एक-दूसरे से परिचय प्राप्त करने—एक दूसरे को समझने का काफी मौका मिलता है और इसलिये रक्तिम क्रान्ति के सबसे बड़े अभिशाप—प्रतिक्रान्ति का भय सदा के लिये समाप्त हो जाता है। चीनी क्रान्ति में भी 'नई लोकशाही' ने प्रतिक्रान्तियों की संभावना को समाप्त कर समाजवाद में एक गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ा है। भारत के शांतिमय समाजवाद ने वैदेशिक नीति में तटस्थता घोषित कर विदेशी हस्तक्षेप से भी मुक्ति पा लिया है। भारत में यदि शान्तिमय समाजवाद की अन्तिम सीढ़ी भी सफल हो जाती है तो समाजवाद की यह शान्तिमय घूँट, सम्भव है, दुनियाँ के सभी राष्ट्रों को स्वीकार हो जाय।

क्रमिक तथा योजनाबद्ध विकास

क्रमिक विकास होने के कारण समाज की उत्पादक क्षमता का सर्वोत्तम उपयोग संभव है। हिंसक क्रान्ति में सभी क्रियायें तीव्र हो जाती हैं, और इस उथल-पुथल में उत्पादक-क्रियाओं की पुनरावृत्ति, अनावश्यक योजना तथा अपव्यय सम्भव है। शान्तिमय समाजवाद में न तो आन्तरिक प्रतिक्रान्ति का भय होता है और न विदेशी हस्त-क्षेप का, बल्कि आन्तरिक और वाह्य सभी परिस्थियाँ उसके विकास से सहानुभूति रखती है तथा सक्रिय सहयोग देने को तैयार रहती हैं। क्रमिक उन्नति में भावी त्रुटियों को शीघ्र देखा तथा सुधारा जा सकता है। वस्तुतः बात भी ठीक है यदि सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण की भावना समाजवाद में अन्तर्निहित है, तो कोई कारण नहीं कि मानव इस व्यवस्था से आतङ्कित हो। श्रम की प्रतिष्ठा शान्ति के साधनों से भी स्थापित की जा सकती है और श्रम की प्रतिष्ठा ही सच्चे अर्थ में श्रमिकों की प्रतिष्ठा होगी। सम्पूर्ण समाज के मानवश्रम का उपयोग यदि क्रमिक तथा वैज्ञानिक योजना में की जाय, तो समाज के सभी अंग स्वस्थ होंगे, उत्पादक शक्तियों का सर्वोत्तम सदुपयोग होगा, और साधनों की विपुलता में सुख और शान्ति का स्थायी साम्राज्य स्थापित हो जायगा।



स्वाधीन भारत की समस्यायें

"इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि विभाजन लाचारी का हल है। वह अल्प-संख्यकों की समस्या का निराकरण नहीं कर सकता, भले ही वह उसे विषम न बनाये। पर मुझे तो यह संदेह है कि इससे समस्या और विषम रूप धारण करेगी। यह अपने पीछे अनेक कटु स्मृतियाँ छोड़ जायगा। इसके प्रयोग द्वारा एक ओर तो प्रसन्नता की सीमा न रहेगी और दूसरी ओर क्षोभ और धीरे-धीरे सुलगने वाली प्रतिक्रिया होगी। इससे वैसे ही झगड़ों की जड़ पड़ेगी, जिनके कारण भाई-भाई का खून कर देता है और विश्वव्यापी समर का जन्म होता है। इसे नगण्य न समझने ही में बुद्धिमत्ता है। हमारी बुद्धिमत्ता इसमें भी है कि हम सद्भाव और मैत्री के उस कोष को भी नगण्य न समझें, जो हमें एक हजार वर्ष के साथ रहने और जीवन बिताने से प्राप्त हुआ है।

डा० राजेन्द्र प्रसाद।

१५ अगस्त, १६४७

गांधी जी के निरन्तर तथा वैज्ञानिक पथ-प्रदर्शन से भारतीय जनता ने स्वाधीनता प्राप्त की। आजादी मिलने का कारण अँग्रेजी साम्राज्य-वाद से शान्तिमय सङ्घर्ष था, लेकिन अँग्रेजो की कूटनीति के कारण '१५ अगस्त सन् १६४७' को राष्ट्रीय इतिहास में मानव-रक्त से लिखा जायगा। भारत के लाखों आदमियों के लिये आजादी तथा मृत्युका पैगाम साथ-साथ मिला। अँग्रेजी पूँजीपति यह जानते थे कि भारत में

इतनी भौतिक शक्ति तथा सांस्कृतिक क्षमता है कि स्वतन्त्र होते ही वह दुनियाँ में एक प्रधान शक्ति के रूप में विकसित हो जायगा, इसलिये भारत छोड़ते समय वे दो चाल चल गये थे। एक तो पाकिस्तान की नीव उन्होंने 'फूट डालो और शासन करो।' की कूटनीति से डाल दी और दूसरा देशी रियासतों का सवाल उलझा कर गये। केवल पाकिस्तान का अकेला प्रश्न ही इतना विकट था कि उसने नवभारत के सारे ढाँचे को चरमरा दिया। यदि कहीं भारत की बागडार नेहरू जी जैसे मानव-प्रेमी कुशल राजनीतिज्ञ के हाथ न पड़ी होती तो पाकिस्तान की समस्या ही भारतीय अर्थतन्त्र को समाप्त करने के लिये काफी थी।

बँटवारे के लिये उत्तरदायी कौन ?

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि पाकिस्तान बना तो कैसे बना और यदि देश के विभाजन से चतुर्मुखी समस्याओं की सम्भावना थी, तो कांग्रेस ने उसे स्वीकार क्यों किया ? महात्मा गांधी ने कहा था कि भारत के 'टुकड़े करना शरीर को दो भाग में काटने के समान है।' इस विषय पर काश्मीर में सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी के महामन्त्री क्रुश्चेव ने ठीक ही कहा है कि पाकिस्तान का निर्माण पूँजीवादी चाल से हुआ है। साम्राज्यवादियों की यह चाल सफल रही, क्योंकि साम्प्रदायिक भावनाओं को उत्तेजित कर उन्होंने पाकिस्तान का मार्ग प्रशस्त कर दिया। स्टालिन की कसौटी के अनुसार वे सभी व्यक्ति, सभी पार्टियाँ तथा विचार घोर प्रतिक्रियावादी ठहरेंगे, जिन्होंने पाकिस्तान के बनाने में सक्रिय योग दिया है। क्रान्तिकारी की परिभाषा देते हुये उन्होंने बतलाया है कि जोशीला भाषण देना, लेख लिखना या क्रान्तिकारिता का ढोल बजा देना ही किसी को क्रान्तिकारी नहीं साबित करता। क्रान्तिकारिता की जाँच तो इस बात से हो सकती है कि जनता के शत्रुओं

के विचार का कौन समर्थन करता है और कौन विरोध। भारत की परिस्थितियों में भारतीय जनता और अंग्रेज साम्राज्यवादी दो विरोधी शक्तियाँ थीं; इन दोनों के स्वार्थों की एक रूपता मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अकल्पनीय है। यदि कोई शक्ति पाकिस्तान बनने के पहले उसका समर्थन करती थी, जितनी भी ताकतें भारत के विभाजन की माँग करती थीं, जितने भी तर्क भारत की स्वाधीनता को दो भाग में बाँटने के लिये दिये जाते थे, वे सभी स्टालिन की परिभाषा में घोर प्रतिक्रियावादी ठहरेंगे। मुस्लिम लीग का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसका उद्देश्य किसी से छिपा नहीं और अभी 'पाकिस्तानी विधान' के प्रस्तावित मसविदे में 'इस्लामी राज्य' घोषित करने से वह बिल्कुल ही स्पष्ट हो गया है। प्रश्न तो यह उठता है कि अपने को प्रगतिशील तथा महाक्रान्तिकारी बतलाने वाले कम्यूनिस्टों की मार्क्सवादी आत्मा इस साम्राज्यवादी कूटनीति का समर्थन करने के लिये कैसे तैयार हो गई।

पाकिस्तान और कम्यूनिस्ट

पाकिस्तान के बारे में भारतीय कम्यूनिस्टों ने जो अपने मुख पर कालिख पोती है, वह इतिहास कभी भी नहीं भूल सकेगा। इन बेचारों को यह भी पता नहीं कि पाकिस्तान अंग्रेजों की चाल का परिणाम है। इनके नेता सज्जाद जहीर ने 'मुस्लिम लीग और आजादी' नामक पुस्तक में पाकिस्तान के समर्थन करने में अपने सारी मार्क्सवादी योग्यता का परिचय दे दिया है। लिखते हैं।

"कितने ही राष्ट्रवादियों का कहना है कि पृथक निर्वाचन के विषैले कीड़े ने ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय एकता की जड़ों को खा डाला है। वे सोचते हैं कि मुसलमानों से पृथक निर्वाचन की माँग कराना हिन्दुस्तान की साम्राज्य-विरोधी एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिये साम्राज्यवादियों की एक चाल थी।"

और हमारे कम्यूनिस्ट भाई को अँग्रेज दूध के धोये नजर आते हैं; उनके अनुकूल पाकिस्तान का आधार दूसरा ही है;

"परन्तु ये साथी यह नहीं देखते कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या को साम्राज्यवाद ने नहीं पैदा किया है। हमारे देश में हिन्दू-मुस्लिम समस्या है, क्योंकि उसके कुछ ऐतिहासिक कारण हैं।" (पृष्ठ १)

कम्यूनिस्टों को कबीर, जायसी, रसखान की परम्परा नहीं दिखलाई पड़ी जिनके बिना भारतीय साहित्य अधूरा रह जायगा; इन्हें महान अकबर के संदेश नहीं सुनाई पड़े, जिनके बिना भारतीय इतिहास अपूर्ण रहेगा, इन्हें अँग्रेज कूटनीतिज्ञों की बात सुनाई पड़ी कि इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम समस्या की जड़े हैं।

पाकिस्तान और लेनिन-स्टालिन-क्रुश्चेव

भारतीय जनता की कट्टर शत्रुता तथा साम्राज्यवादी चक्रों के समर्थन के अपने दूषित कार्यों में इन्होंने महान क्रान्तिकारी लेनिन तथा स्टालिन का नाम भी घसीट लिया। सज्जाद जहीर साहब लिखते हैं:

"सोवियत रूस से भी हम यही सबक सीखते हैं। वहाँ सोशलिस्ट समाज की स्थापना के बाद मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण और एक जाति के द्वारा दूसरी जाति का पीड़न मिटा दिया गया है। सोवियत सङ्घ में शामिल १५ प्रजातन्त्रों को संघ से अलग हो जाने का अधिकार है। इस अधिकार के स्वीकार किये जाने से संघ में फूट या विरोध नहीं पैदा हुआ बल्कि उसकी एकता इतनी दृढ़ हो गई है कि संसार की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति भी उसे नहीं तोड़ सकी है।" (पृष्ठ १६)

"मुस्लिम लीगी नेताओं और समाचार-पत्रों ने सोवियत के इस फैसले का स्वागत किया है और कहा है कि आत्म-निर्णय को स्वीकार

करके जैसी एकता सोवियत रूस में कायम हुई है, वैसी एकता हिन्दुस्तान में भी हो सकती है।" (पृ० १६)

इसके बाद नामधारी कम्यूनिष्ट महोदय यह विश्वास दिलाने के लिये कि पाकिस्तान के बनने से हिन्दुस्तान की एकता कायम रहेगी, मिस्टर जिन्ना के भाषण का यह उद्धरण देते हैं;

"हमें एक दूसरे के साथ अच्छे पड़ोसियों की तरह रहना चाहिये। हिन्दू दक्षिण और पश्चिम की (देश की) सीमाओं की रक्षा करेंगे। और मुसलमान उत्तरी पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं पर पहरा देंगे। फिर हम दोनों एक साथ खड़े होंगे और दुनियावालों से कह देंगे कि हिन्दुस्तान से दूर हटो, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का है।"—(भाषण, अलीगढ़ में १० मार्च १९४१.)

प्रश्न यह उठता है कि जब भारत के कम्यूनिष्टों को जिन्ना के इस तर्क पर यक़ीन है कि हिन्दू-मुसलमान इस प्रकार बँटे देश की रक्षा करेंगे, तो उन्हें हिन्दू-मुस्लिम समस्या की जड़ें गहरी क्यों दीखती हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि क्रुश्चेव साहब अभी काश्मीर में क्यों कह गये कि पाकिस्तान साम्राज्यवादियों की कुचाल का परिणाम है। क्या उन्हें यह पता नहीं था कि भारतीय कम्यूनिष्टों ने दिल खोलकर तथा गला फाड़कर सोवियत नीति के आधार पर पाकिस्तान का समर्थन किया है।

शायद नामधारी कम्यूनिष्ट यह कहेंगे कि क्रुश्चेव को मार्क्सवादी विचारों का प्रतिनिधि क्यों माना जाय? सम्भव है उनकी बात आपको ठीक जँचे; इसलिये आइये, लेनिन-स्टालिन के विचारों से भी परिचित हो जाँय। लेनिन ने लिखा है कि प्रत्येक राष्ट्रिका (Nationality) को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिये, लेकिन उन्होंने यह भी लिखा है कि धर्म तथा नस्ल (Race) के आधार पर बनी किसी राष्ट्रिका को इस प्रकार आत्म-निर्णय के आधार का मार्क्सवादी दर्शन

में प्रश्न ही नहीं उठता। इसके बाद स्टालिन ने तो इसे और स्पष्ट कर दिया है। स्टालिन कहते हैं कि आत्म-निर्णय के अधिकार के पहले यह निश्चित होना चाहिये कि वह राष्ट्रिका वस्तुतः राष्ट्रिका है अथवा नहीं और इसके लिये उन्होंने यह लिखा कि कम्यूनिष्ठ परिभाषा के अनुकूल प्रत्येक राष्ट्रिका में ये चार गुण अनिवार्य हैं। वे चारों गुण हैं ?

१. एक भाषा (A Common Language)

२. एक प्रकार का आर्थिक जीवन (A Common Economic Life)

३. एक भौगोलिक सीमा (A Common Geographical Territory)

४. एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक ढाचा (A Common Psychological Make up)

और इसके बाद स्टालिन यह भी लिखते हैं कि यदि इन चार गुणों में से एक भी अनुपस्थित हो, तो हम उसे राष्ट्रिका नहीं मान सकते।

साम्राज्यवाद की सेवा

'आत्म-निर्णय' के प्रश्न पर क्रुश्चैव, लेनिन या स्टालिन या किसी सच्चे मार्क्सवादी के विचार का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पाकिस्तान का समर्थन उनके आधार पर नहीं हो सकता था। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्टालिन के द्वारा निर्धारित चारों गुणों में से एक भी पाकिस्तान में नहीं है, फिर भी यहाँ के कम्यूनिस्टों को उसके आत्म-निर्णय पर बलबलाने की क्या आवश्यकता पड़ी। क्या बेचारे लेनिन और स्टालिन की भाषाओं का अर्थ नहीं समझते, हाँ नहीं समझते क्योंकि उन्होंने लेनिन और स्टालिन के मार्क्सवादी-समाजवादी

दर्शन के विरुद्ध चलने का व्रत ले रखा है। आज पाकिस्तान का जो रूप है, उसे डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने अपनी पुस्तक में पहले भी संकेत किया था, लेकिन पाकिस्तान की स्थापना से कम्यूनिस्ट लोग देश की रक्षा करना चाहते थे। हिन्दुस्तान की भलाई जो दिल से सोचना है, उसे यह निष्कर्ष विष से लगेंगे, देखते नहीं सारे भारत के प्रति कितना अगाध प्रेम था मौलाना हक के विशाल हृदय में; और वह उनके इन विचारों में निकल पड़ा, "वे लोग भारत के महान शत्रु थे जिन्होंने भारत के दो टुकड़े कर दिये।" भारत के कम्युनिस्ट नेता लेनिन स्टालिन, क्रुश्चैव, गांधी, हक से परे हैं, क्योंकि उन्होंने साम्राज्यवाद की सेवा का प्रण कर रखा है और उसके लिये बेचारे मार्क्सवादी समाजवाद के महान नेताओं को भी कलुषित करने से बाज नहीं आते। ऐसी बात नहीं हैं कि कम्यूनिस्ट पार्टी के सभी कार्यकर्त्ता अपने नेताओं के इस दोरङ्गे तथा समाजवाद-द्रोही चालों से परिचित न हों, लेकिन उनमें पार्टी-भक्ति का इतना उपदेश दिया जाता है कि इस दिमागी गुलामी से निकल पाना उनके लिये सम्भव नहीं होता। क्रुश्चैव की बात का वे अविश्वास कर लेगें, लेकिन अपनी मानसिक दासता की जञ्जीरों को नहीं तोड़ेगें। पाकिस्तान का सवाल भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति के बारे में आँख खोलने का काम दे सकता है, यदि क्रुश्चैव के विचारों की रोशनी में इसे देखा जा सके।

समस्याओं की जड़

स्वतन्त्र भारत की सभी समस्यायें उसके विभाजित होने के कारण उत्पन्न हुईं। साधारण सी बात है यदि एक छोटे से परिवार में बँटवारा होता है तो कितना उथल-पुथल मच जाता है। भारत का बँटवारा सचमुच ही एक शरीर के दो टुकड़े करने के ही समान हुआ। प्रश्न यह उठता है कि कांग्रेस ने इसे क्यों स्वीकार किया? प्रश्न निश्चय ही

विवेकपूर्ण है और इतिहास इसका प्रमाण है कि कांग्रेस को बँटवारा स्वीकार करना पड़ा। वस्तुतः कांग्रेस उसे स्वीकार करने के लिये विवश थी। तथा कथित प्रगतिशील तत्त्वों ने भारत का बहुत अहित किया, यहाँ के साम्प्रदायिक उन्माद को पैदा करके उससे लाभ उठाया गया तथा ऐसी ठोस परिस्थिति तैयार की गई कि पाकिस्तान के मानने के अतिरिक्त भारत के सन्मुख कोई चारा ही न रह जाय। इससे अगणित समस्यायें उठ खड़ी हुईं। दो केन्द्रीय सरकारें संगठित हुईं, विदेशों में दो दूतावास कायम हुये तथा समस्त केन्द्रीय प्रशासनीय व्यय दोहरा हो गया। यह तो होना ही था, बँटवारे से इन राष्ट्रीय अपव्ययों का होना स्वाभाविक है। आखिर सरकारी व्यय के लिये पैसा कहाँ से आता है, जनता के ही पाकेट से तो। जो काम एक खर्चें में चल सकता था उसके लिये दोहरा खर्च करना पड़ा, लेकिन यदि केवल यही समस्या होती तो गनीमत होती, साथ ही और भी बहुत सी भीषण समस्यायें उत्पन्न हुईं, जिन्हें हल करने में सरकार ने अद्वितीय कार्य-क्षमता, तथा बेजोड़ धैर्य का आदर्श उपस्थित किया है।

शरणार्थी-समस्या

आजादी के बाद ही साम्प्रदायिक उन्माद की ज्वाला जली। पाकिस्तान की स्थापना धर्म के आधार पर हुई और इसलिये ऐसा भ्रम उत्पन्न किया गया कि पाकिस्तान मुसलमानों के लिये तथा भारत हिन्दुओं के लिये है। पाकिस्तान में नर-हत्या का नंगा नृत्य होने लगा। काफी संख्या में हिन्दू लोग भागकर भारत आये। केवल पश्चिमी पंजाब से ही ७५ लाख आदमी आये तथा इसके बाद सिंध और पूर्वी पाकिस्थान से हिन्दुओं का आना जारी रहा। पाकिस्तान में आज तक भी परिस्थितियाँ हिन्दुओं को रहने योग्य नहीं है और हिन्दू धीरे-धीरे पाकिस्तान छोड़ते जा रहे हैं। भारत में 'धर्म निरपेक्ष' राज्य की स्थापना

हुई और पाकिस्तान इस्लामी राज्य बन गया। पाकिस्तान से भाग कर जो लोग आये, वे अपने साथ केवल जिन्दगी ही ला सके थे। मार्ग ही में कितने लोगों को मारकाट डाला गया, स्त्रियों तथा बच्चों के साथ बलात्कार किये गये; शायद इतनी संख्या में मनुष्य बिना युद्ध और बिना कारण के मानव इतिहास में कभी भी एक साथ नहीं मारे गये होंगे। नीचे के आँकड़ों से मनुष्यों के भारत आने का अनुमान किया जा सकता है।

	१९४१		११४९	
देश	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
भारतीय संघ	३१८९०००००	१००·०	३५८२०००००	१००·०
मुस्लिम	४०७०००००	११.९	३९६०००००	११·१
गैर मुस्लिम	२७८२०००००	८८·१	३१६६०००००	८८·९
पाकिस्तान	७०१०००००	१००	७९६०००००	१००·०
मुस्लिम	५३८०००००	७६·७	६६३०००००	८३·३
गैर मुस्लिम	१६३०००००	२३·३	१३३०००००	१६·७

बँटवारे के बाद पाकिस्तान में गैर मुस्लिमों की संख्या पूर्ण जन-संख्या का २३·३ प्रतिशत से १६·७ प्रतिशत हो गई। इसमें यकायक ६·६ प्रतिशत की कमी हुई अर्थात् करीब ३३ लाख आदमी इस आँकड़े के अनुकूल सन् १९४९ तक पाकिस्तान से भारत आये। इस आनुमानिक आँकड़े के बाद भी शरणार्थियों का आना जारी रहा तथा भारत सरकार के सन्मुख करीब-करीब पौन करोड़ आदमियों को बसाने की समस्या उपस्थित हुई। सरकार ने इस महान कार्य के लिये एक पुनर्वास मंत्रालय की स्थापना की, जिसके अधिकारियों ने बड़ी सतर्कता से इस राष्ट्रीय कार्य को समाप्त किया।

शरणार्थियों के आते ही बहुत से शरणार्थी-शिविर बनाये गये जिनमें औसतन प्रति व्यक्ति के लिये एक रुपिया खर्च किया गया।

५

सभी शिविरों में कोई दस लाख रुपिया प्रति दिन खर्च किया गया। सन् १६४६ में शरणार्थी-शिविरों को विघटित करने का निश्चय किया गया। धीरे-धीरे उन्हें काम में लगाने की योजना बनाकर उनकी सहायता बन्द कर दो गई। नीचे दिये हुये आँकड़े से इस क्रिया का अनुमान हो सकता है।

माह	वर्ष	सरकारी सहायता पर शरणार्थियों की संख्या
दिसम्बर	१६४८	१०,००,०००
अप्रैल	१६४६	७,३०,०००
जुलाई	१६४६	६,३६,०००
सितम्बर	१६४६	५,१३,०००
जनवरी	१६५०	१,३५,०००
अप्रैल	१६५०	६३,०००
सितम्बर	१६५०	७८,०००

इस तफसील में पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों की गिनती नहीं शामिल है। पूर्वी पाकिस्तान से ३५ लाख तथा पश्चिमी पाकिस्तान से ५० लाख अर्थात् करीबन ८५ लाख व्यक्ति शरणार्थी के रूप में आये। यह संख्या आस्ट्रैलिया महाद्वीप की आबादी से भी अधिक है। इनके पुनर्वास की समस्या की जटिलता का अनुमान किया जा सकता है। पाकिस्तान भागनेवाले लोगों के मकानों की संख्या २,४७,००० थी, जिनमें १४ लाख ७० हजार शरणार्थी बसा दिये गये। शेष शरणार्थियों को बसाने के लिये ११ नये नगर बसाने का निश्चय किया गया, जैसे कच्छ में कांडला बन्दरगाह के पास गांधी धाम नाम का नगर बसाया गया। इसके अलावा नीलोखेड़ी, (दिल्ली से ८५ मील उत्तर में), राजपुरा (पूर्वी पंजाब और पेप्सू के बीच में ग्रांड ट्रङ्क रोड पर), फरीदा बाद (दिल्ली से १८ मील दक्षिण-

पश्चिम की ओर); हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश); गोविन्दपुरी (मोदी नगर के पास); प्रेम नगर (देहरादून के पास) आदि कुछ नये उपनगर हैं। शरणार्थियों की शिक्षा तथा अन्य विकास के साधनों का भी विकास किया गया। इतने जटिल कार्य को अथाह परिश्रम, धैर्य तथा कर्मठता से पूरा किया गया।

रक्षा की स्थिति

पाकिस्तान के बनने के पहले श्री जिन्ना ने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग होते हुये भी भाइयों की तरह हिन्दुस्तान की सीमाओं की रक्षा करेंगे। बात ठीक उल्टी हुई। साम्राज्यवादी यह चाहते थे कि भारत तथा पाकिस्तान के बीच मनोवैज्ञानिक युद्ध चलता रहे, जिससे कि एक विश्व-शक्ति के रूप में उनका उदय न हो सके, और वे साम्राज्यवादियों के आसरे रहें तथा सदा उनसे शस्त्रास्त्र खरीदते रहें। बँटवारे के बाद आजाद भारत के सामने रक्षा का भी सवाल था। पश्चिमोत्तर सीमा में पहले खैबर और बोलन दर्रे पर कुछ सेनायें सीमा-रक्षा के लिये काफी थी, लेकिन अब सीमा की लम्बाई बहुत अधिक बढ़ गई है। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान की सीमाओं से सटे भागों में रक्षा का सवाल आया तथा इस रक्षा के प्रश्न को पाकिस्तान की नीति ने और गम्भीर बना दिया। रक्षा की समस्या ने इस मद में राष्ट्रीय व्यय को असन्तुलित कर दिया। अँग्रेजी अफसरों के चले जाने से नये सैनिक नेतृत्व का भी सवाल उठा। शरणार्थियों की और काश्मीर तथा हैदराबाद की समस्याओं ने सेना के उत्तर-दायित्व को और महत्त्वपूर्ण बना दिया। सरदार बलदेव सिंह ने भाषण में कहा था।

"१५ अगस्त, ४७ के बाद हमारी सेनाओं ने बड़े-बड़े ऐतिहासिक कार्य किये हैं। हम जानते हैं कि आजादी मिलने के कुछ समय पहले

और बाद में हमें क्या क्या मुसीबतें झेलनी पड़ीं। परीक्षा की इन घड़ियों में सबसे भारी जिम्मेदारी सेनाओं के कन्धे पर आ पड़ी। उन्होंने जिस निष्ठा और देश-भक्ति के साथ, जिस परिश्रम और कर्त्तव्यपरायणता की भावना के साथ अपना काम किया, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।"

काश्मीर की समस्या

हल होने के बाद भी काश्मीर की समस्या को एक व्यापक रूप दिया जाता है, और साथ ही इस समस्या को शाश्वत बनाने की कोशिश की जाती है। काश्मीर के शासक तथा जनता ने काश्मीर को भारत में मिलाने का निश्चय किया। पाकिस्तान की मदद से आक्रमण करके 'आजाद काश्मीर' की स्थापना हुई। राष्ट्रसंघ में मामले के जाने पर युद्ध विराम का आदेश दिया गया तथा श्री ग्राह्म के नेतृत्व में एक आयोग काश्मीर-समस्या की जाँच के लिये आया। आयोग ने अपना वक्तव्य सुरक्षापरिषद को दिया, जिसमें पाकिस्तान स्पष्ट रूप से दोषी ठहरा। साम्राज्यवादियों ने फिर भी इसका हल न निकाला। इसके बाद अमेरिका तथा पाकिस्तान में सैनिक सन्धि हुई, जिसकी प्रतिक्रिया में श्री नेहरू ने अपने भाषण में स्पष्ट कहा था।

"काश्मीर-समस्या का रूप इस समझौते ने बदल दिया है, मत-गणना शान्ति की स्थिति ही में सम्भव है।"

अपनी भारत-यात्रा में क्रुश्चेव ने कहा कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित काश्मीर की धारा सभा का भारत के साथ रहने का निश्चय वहाँ की जनता की इच्छा का परिचायक है; अतः अब मतगणना का प्रश्न ही नहीं उठता। काश्मीर-समस्या में भारत को अपनी अधिक शक्ति लगानी पड़ी। काश्मीरी जनता करोड़ों भारतीयों के परिवार में

सुखी है तथा उन्नति के पथ पर बढ़ती जा रही है, फिर भी उसे सम्राज्यवादी एक झगड़े का कारण बनाना चाहते है।

रियासतों का विलयन

स्वाधीन भारत की एकता को देशी रियासतों से बहुत खतरा था। अँग्रेज जाते समय नरेशों को यह राय तो जरूर दे गये कि वे सुविधानुकूल भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित हो जाँय, लेकिन उन्हें यह प्रलोभन भी देकर गये कि यदि वे चाहें तो स्वाधीन भी रह सकते हैं। दुनियाँ यह जानती थी कि इस समस्या को सुलझाना भारत के लिये टेढ़ी खीर होगी। इन रियासतों की संख्या ५६२ थी और इनके नरेशों को स्वेच्छाचारिता का अभ्यास था, लेकिन सरदार पटेल की कुशल राजनीति से यह समस्या देखते-देखते समाप्त हो गई। इन देशी रियासतों के नरेशों ने अद्वितीय समझ से काम लिया तथा शान्तिपूर्वक ढङ्ग से भारतीय संघ के अभिन्न अङ्ग बन गये। मेरी समझ से शान्तिमय ढङ्ग से प्राप्त की गई व्यवहारिक समता का ऐसा उदाहरण विश्व के इतिहास में कहीं नहीं है, इस महत्त्व को दृष्टि में रखकर इसके लिये एक अलग अध्याय जोड़ा गया है, किन्तु यहाँ पर इतना कहना ही होगा कि रियासतों का विलयन शान्तिमय समाजवाद की पहली और शानदार जीत है।

युद्ध की विरासत

युद्ध सदा कुछ नये भ्रष्टाचार उत्पन्न करते हैं, जो शान्तिकालीन समाज में नहीं पाये जाते। द्वितीय विश्व महायुद्ध के प्रभाव से भारत की आर्थिक और सामाजिक नैतिकता भी अछूती न बच सकी। चोर बाजारी, घूसखोरी, उपभोग की आवश्यकताओं की कमी तथा और अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार भारत के लिये युद्ध-काल की देन है। आवश्यक पदार्थों पर नियन्त्रण हो जाने से काला बाजार को अच्छा

प्रोत्साहन मिला। युद्धकालीन अर्थ-तन्त्र में तीन का तेरह बना लेना बहुत सरल होता है और भारतीय उद्योगपतियों को इस स्वाद का आनन्द आ गया था। भौतिक समस्याओं को तो लड़कर समाप्त किया जा सकता है, उनका प्रत्यक्ष निदान सम्भव हैं; लेकिन नैतिक समस्याओं के हल के लिये कोई प्रभावशाली, शीघ्र कार्य करनेवाला माध्यम नहीं होता। इस नैतिक पतन को रोकने के लिये 'भ्रष्टाचार निरोधक समितियाँ, बनाई गईं और उनमें काफी सुधार भी हुआ है। भ्रष्टाचार के इस प्रश्न के साथ कांग्रेसी सरकार के अधिकारियों के द्वारा अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ पक्षपात की समस्या भी है। इन समस्याओं के हल के लिये एक ओर अनुशासन की धार तेज करनी होगी और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक उपायों से रचनात्मक क्षमता उत्पन्न करने की कोशिश होगी; लेकिन अन्तिम हल तो नये समाज की नई अर्थिक व्यवस्था के उदय से ही सम्भव है।

शासन का उत्तर दायित्त्व

अँग्रेजों ने शासन की मशीनरी को शोषण के माध्यम के रूप में खड़ा किया था साम्राज्यवादियों की नौकरशाही के बल पर नये मूल्यों का सृजन नहीं हो सकता है। यही कारण है कि नेहरू जी ने बार-बार कहा है कि नवभारत को उपाधिधारी 'बीए. एम. ए.' की आवश्यकता नहीं, वलिक वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों तथा ओवर्सियरों की जरुरत है। देश में प्राविधिक शिक्षा का विकास होता जा रहा है। मैकाले के अनुकूल अँग्रेजी-शिक्षा का उद्देश्य भारत में क्लर्क उत्पन्न करना था, क्योंकि साम्राज्यवाद को टिकने के लिये अपनी मशीनरी में क्लर्कों की आवश्यकता थी। अँग्रेजों को भारत की राष्ट्रीय उन्नति से क्या सरोकार था। समाजवादी समाज के उद्देश्य को पूरा करने के लिये वैज्ञानिक साधनों का उपयोग एक अनिवार्य आवश्यकता है। लोक-कल्याण के

लिये स्वास्थ्य वैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की जरूरत है। आजादी के बाद शासन का अर्थ लोक-कल्याण हो गया, इसलिये बहुत-सी राष्ट्रीय प्रयोगशालायें अनुसंधान कार्य के लिये स्थापित की गईं। बहुत सी मेडिकल तथा प्राविधिक शिक्षा की संस्थायें खोली गईं। कुछ महत्त्व-पूर्ण प्रयोगशालाओं का नाम नीचे दिया गया है;

प्रयोगशाला	स्थान	प्रारम्भ
१. राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला	दिल्ली	२१.१.५०
२. राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला	पूना	३.१.५०
३. राष्ट्रीय धातु सम्बन्धी प्रयोगशाला	तातानगर	२६.११.५०
४. ईंधन अनुसन्धान संस्था	जीलगोरा (बिहार)	२.४.५०
५. केन्द्रीय काँच और वर्त्तन अनुसन्धान संस्था	कलकत्ता	२६.८.५०
६. केन्द्रीय विद्युत रासायनिक अनुसन्धान संस्था	कारेकुडी	सितम्बर ४८ में नींव रखी गई।
७. केन्द्रीयचर्म अनुसन्धान संस्था	मद्रास	२४·४·५०
८. केन्द्रीय सड़क अनुसन्धान संस्था	दिल्ली	६·६·५०
९. केन्द्रीय खाद्य अनुसन्धात संस्था	मैसूर	२१·१०·५०
१०. केन्द्रीय भवन-निर्माण अनुसंधान संस्था	रुड़की	२१·२·५१ को नींव रखी गई
११. केन्द्रीय औषधि अनुसन्धान संस्था	लखनऊ	१७·२·५१

इन केन्द्रीय अनुसन्धान संस्थाओं के अलावा विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान कार्य के लिये स्कालरशिप तथा फेलोशिप की व्यवस्था की गई। एक उदाहरण से परिवर्त्तन स्पष्ट हो जायगा। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में आजादी के पहले एक या दो स्कालरशिप अनुसन्धान के लिये अनुसन्धान में लगे विद्यार्थियों को

दिये जाते थे, जब कि इस समय १०० रुपिये से ५०० रुपियों तक की चौदह-पन्द्रह स्कालरशिपें और फेलोशिपें की व्यवस्था है। अनु-सन्धान शालाओं की नामावली से यह प्रकट हो जाना चाहिये कि भारत की वर्त्तमान सरकार तथा उसके कर्णधार नेहरू समाज के सभी अंगों में कितने व्यापक विकास की तैयारी के लिये तुले हैं। कुछ ही समय पहले सिविल सर्विस की तरह राष्ट्रीय वैज्ञानिक सर्विस प्रारम्भ करने का निश्चय भी सरकार ने किया है, जो उसके प्रगतिशील भावनाओं का परिचायक है।

भारतीय उद्योग का सन्तुलन

बँटवारे से भारतीय उद्योग को गहरा धक्का लगा। वास्तव में बँटवारे के बाद सभी औद्योगिक संस्थापनायें भारत में आ गईं, लेकिन कच्चे माल के प्रदेश भारत में न आकर पाकिस्तान में चले गये। स्थिति यह उत्पन्न हुई कि यदि कच्चा माल प्राप्त करने की व्यवस्था न हो, तो सारे के सारे जूट और कपास के कारखाने बन्द हो जाँय और भारत की औद्योगिक क्षमता को गहरा धक्का लगे। यही कारण है कि प्रथम पंचवार्षिक योजना में कपास तथा जूट के उत्पादन पर अधिक जोर दिया गया। जूट में ६३% तथा कपास में ४२% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया तथा उन क्षेत्रों में जहाँ पहले खाद्यान्न पैदा किये जाते थे, जूट तथा कपास की खेती की गई। खाद्यान्नों की कमी को दूसरे नये क्षेत्रों में खेती के क्षेत्र का प्रसार करके पूरा किया गया। संयुक्त भारत विश्व में जूट पर एकाधिकार रखता था, और भारत के विदेशी व्यापार को सन्तुलित रखने के लिये जूट का विदेशी निर्यात अत्यधिक जरूरी था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के दो प्रमुख उद्योग कच्चे माल की कमी से पंगु से हो गये थे, लेकिन पंचवर्षीय योचना में इस कमी को पूरा कर लिया गया है।

खद्यान्न-समस्या

स्वाधीन भारत के समय सबसे विकट समस्या अनाज की थी; आजादी के पहले भी बाहर से अनाज मँगाया जाता था, लेकिन पाकिस्तान के निर्माण से तो भारत की स्थिति खाद्यान्नों के बारे में अत्यधिक शोचनीय तथा गम्भीर हो गई। नीचे की तालिका से इस स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है;

देश	जन संख्या		खाद्यान्न उत्पादन	
भारत	संयुक्त	८२%	संयुक्त	७५%
पाकिस्तान	भारत का	१४%	भारत का	२५%

संयुक्त भारत की जनसंख्या का ८२% भारत में आया लेकिन अन्न के उत्पादन का केवल ७५% ही आया, इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से ७ प्रतिशत का खाद्यान्नों में घाटा हुआ। एक तो संयुक्त भारत में स्वयं अन्न का अभाव था और इस असंतुलित बँटवारे के कारण भारत की अन्न-समस्या कितना गम्भीर थी, इसका अनुमान हम प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री सी. एन वकील की पुस्तक "Economic Consequences of Divided India" में व्यक्त किये गये उनके विचारों से कर सकते हैं;

"युद्ध के पहले सालों में संयुक्त भारत का व्यापार सन्तुलित था.... खाद्यान्नों के अभाव से, जो बँटवारे के बाद और गम्भीर हो गया, भारत के राष्ट्रीय व्यापार में काफी कमी (Deficit) पड़ गई और ऐसा लगता है कि आने वाले काफी समय तक भारत के विदेशी व्यापार में यह कमी बनी रहेगी।....संयुक्त भारत करीब-करीब १३ करोड़ रूपिये की खाद्य-सामग्री बाहर से मँगवाता था, जबकि सन् १९४८-४९ में १३० करोड़ रुपया खाद्यान्नों की कमी को पूरा करने में खर्च हो

गया। १९४९–५० में भी १०८ करोड़ रुपया केवल खाद्य-समस्या को सुलझाने में लगा।"

अन्त में वकील साहब ने लिखा है कि खाद्यानों के आयात से ही भारत का सम्पूर्ण विदेशी व्यापार तथा औद्योगिक विकास अस्तव्यस्त हो गया है; यही और केवल यही कारण ही आर्थिक उन्नति में बड़ी बाधा बनी हुई है। इस बाधा को दूर करने के लिये ही प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में समस्त प्रयास को कृषि-उन्नति ही में केन्द्रीभूत किया गया और खाद्य की समस्या को सदा के लिये समाप्त कर देने का श्रेय श्री रफी अहमद किदवई को है, जिन्होने अपने कुशल विवेक तथा कर्मठ निष्ठा के कारण इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया है।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि भारत के सन्मुख आजादी के बाद भयानक तथा चतुर्मुखी समस्यायें उपस्थित थीं, फिर भी हमारे राष्ट्र ने उनपर निर्णायक विजय प्राप्त कर ली है। चीन और भारत की आर्थिक प्रगति की तुलना करनेवाले यह भूल जाते हैं कि आजादी ने भारत के दो टुकड़े कर दिये और चीनी क्रान्ति ने चीन के सभी अङ्गों में महान एकता ला दी। चीन के सन्मुख इस प्रकार की समस्यायें नहीं थीं। एकता के मन्त्र से बँधी चीनी जनता प्रगति के पथ पर बढ़ती जा रही है और हमारे राष्ट्र का कुछ समय बँटवारे से उत्पन्न कृत्रिम समस्याओं के सुलझाने में लग गया; लेकिन उनको हल कर सकना ही एक ऐतिहासिक योग्यता है और यह योग्यता हमारे भविष्य की ओर रचनात्मक संकेत करती है।



समाजवाद की पहली विजय

"यह देश और उसकी संस्थायें इस देश के लोगों की गौरवपूर्ण विरासत हैं। यह संयोग की बात है कि कुछ लोग ब्रिटिश भारत में रहते हैं और कुछ रियासतों में, लेकिन सभी भारत की संस्कृति और उसके चरित्र के हिस्सेदार हैं। हम सब खून के रिश्ते और स्व-हित के ख्याल से एक सूत्र में बँध सकते हैं। हमको कोई टुकड़ों में विभाजित नहीं कर सकता। हमारे बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं खड़ी की जा सकती।"

—सरदार पटेल

आजादी के पूर्व

आज़ादी के बाद भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ और पाकिस्तान तथा भारतीय सङ्घ दो टुकड़े कर दिये गये। पिछले अध्याय में इससे उत्पन्न समस्याओं की चर्चा की गई है। आजादी के पूर्व भी, यद्यपि भारत भौगोलिक दृष्टिकोण से एक था, राजनीतिक रूप में दो भागों में बँटा था। ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें। भारतीय रियासतों का क्षेत्रफल समस्त भारत का २/५ था और उनमें लगभग ९. ३०,००,००० मनुष्य रहते थे। इस प्रकार देशी रियासतों की जनसंख्या नवनिर्मित राष्ट्र पाकिस्तान की जनसंख्या से (९,३०,००,०००-७,०१,३५,०००) करीब दो करोड़ से भी अधिक थी। इन रियासतों की कुल संख्या ५६३ थी। ये रियासतें भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं, इनके अधिकार भी भिन्न-भिन्न थे। कुछ रियासतों में विकास ब्रिटीश

भारत से भी अधिक था, ट्रावनकोर तथा बड़ौदा में शिक्षा बृटिश भारत की तुलना में अधिक थी और कुछ रियासतें बारहवी शताब्दी में अभी भी रह रही थीं। कुछ रियासतों को तो अपना सिक्का चलाने तक का अधिकार था। कुछ रियासतों का क्षेत्रफल हजारों वर्ग मील में था और कुछ चन्द एकड़ों में नापी जा सकती थीं। पनिक्कर ने अपनी पुस्तक 'Relations of Indian States' में लिखा है;

बृटिश भारत में सैनिक चेतना (Military spirit) मर चुकी थी, किन्तु रियासतों में इसे अभी भी जीवित रखा गया है।....इसके अलावा ये देशी राज्य तथा उनके शासक हमारी सांस्कृतिक तथा कलात्मक परम्परा के एक अर्थ में रक्षक रहे हैं, जिसका महत्त्व हम इस समय नहीं समझ सकते। विघटित तथा परिवर्त्तित होते हुये समाज में भी इन राज्यों में सामाजिक रचना की ठोसता को सुरक्षित रखा गया है। इनमें वे अप्रत्यक्ष बंधन अभी भी जीवित हैं जो वर्गों तथा जातियों को एक समुदाय में बाँध कर रखते हैं, इसीलिये वहाँ साम्प्रदायिकता का विष नहीं है। काश्मीर के महाराज हिन्दू हैं यद्यपि वहाँ की जनता अधिक संख्या में मुस्लिम है, ठीक इसकी उल्टी दशा हैदराबाद की थी।"

रियासतों की शासन-व्यवस्था

रियासतों के शासक स्वेच्छाचारी थे। विलास ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। उनकी प्रेम-कहानियाँ तथा विलास-कथायें रोचक उपन्यासों के कथावस्तु का काम देती थीं। मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा आदि रियासतें तो उन्नत दशा में थी। कुछ रियासतों में विधान सभायें भी थीं, जिनके अधिकार अत्यधिक सीमित थे। प्रजा की सारी आमदनी का पचास प्रतिशत करके रूप में ही ले लिया जाता था, इसके अतिरिक्त विशेष अवसरों पर प्रजा से और धन भी वसूल किया

जाता था। रियासतों में सबसे बड़ी दुर्व्यवस्था यह थी कि राजा तथा राज्य की आमदनी और खर्च में कोई भेद ही नहीं किया जाता था, इसलिये यूरोप-यात्राओं में एक-एक रात में ये नरेश लाखों रुपये खर्च कर देते थे। शिक्षा तथा अन्य सार्वजनिक हितों पर बहुत कम रुपिया खर्च होता था। इन रियासतों में बहुतों में तो न्याय, व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका तीनों ही एक व्यक्ति में केन्द्रित रहते थे। कुछ में न्याय की अलग व्यवस्था थी भी, तो राजा न्यायालय के निर्णयों का भी अतिक्रमण करते थे। इन रियासतों में दासता तथा बेगार की ...नी प्रथायें थी। जन-आन्दोलन के लिये यहाँ कोई वैधानिक मार्ग न ...ा। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे इन रियासतों का ...ोई रूप क्यों न रहा हो, यहाँ की जनता अपने नरेशों के अजनतान्त्रिक ...ासन तथा निरंकुशता से मुक्त होने के लिये छटपटा रही थी।

ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध

इन सभी रियासतों का सम्बन्ध अँग्रेजी साम्राज्यवाद से एक ही ...ाथ नहीं हुआ। धीरे-धीरे एक-एक करके ये रियासतें बृटिश-सम्पर्क ... आयीं और इसलिये आरम्भ में प्रत्येक रियासत का बृटिश सरकार ... अलग सम्बन्ध था, जिसका आधार उनके साथ की गई वैयक्तिक ...न्धि थी। जो सन्धियाँ इन रियासतों और बृटिश सरकार के साथ ...ई थीं, उनमें कुछ बातें समान भी थीं। रक्षा तथा विदेशी सम्बन्ध ... मामले में ये नरेश बृटिश आधिपत्य को स्वीकार करते थे। इनकी ...नायें बृटिश स्वीकृति से रखी जाती थीं, तथा आवश्यकतानुसार ...न्हीं के अधीन कर भी दी जाती थीं। बिना बृटिश सरकार की ...ाज्ञा के ये नरेश किसी दूसरे राज्य से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध ...ीं स्थापित कर सकते थे; इस प्रकार इनकी राजनीतिक अवस्था ...क्षित तथा नियन्त्रित स्वाधीनता के उपभोग की थी। इस राजनीतिक

प्रणाली को न तो संघात्मक ही कहा जा सकता था, न अन्तर्राष्ट्रीय और न सामन्तवादी ही; क्योंकि इन सभी के कुछ गुण होते हुये भी यह प्रणाली प्रत्येक से भिन्न थी। ये नाममात्र को स्वतन्त्र थे, अँग्रेज इन्हें अपना मित्र (Allies) कहते थे तथा इनकी मित्रता का अर्थ समय-समय पर बृटिश सरकार की पूर्ण सेवा थी।

नरेन्द्र-मण्डल

भारतीय नरेशों का नरेन्द्र-मण्डल सन् १९२१ में स्थापित हुआ था और वह संगठन काफी शक्तिशाली हो गया था। इस सङ्गठन का उद्देश्य नरेशों की मर्यादा के लिये सङ्घर्ष करना था। नरेन्द्र-मण्डल के कार्यों की व्याख्या इस प्रकार की गई थी। (१) वह एक सलाह-कार संस्था होगी, जो कि केन्द्रीय सरकार तथा नरेशों के सम्बन्ध को दृढ़ करेगी। (२) इसका सदस्य होने के कारण कोई भी नरेश अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोएगा और जबतक कोई नरेश स्वयं नहीं चाहेगा, उसकी आन्तरिक समस्याओं पर इसमें विचार न किया जायगा। (३) देशी रियासतों के नरेशों को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वे सम्पूर्ण बृटिश साम्राज्य तथा प्रमुखतः बृटिश भारत और रियासतों के मसलों पर बहस कर सकें। नरेन्द्र-मण्डल का मुख्य कार्य नरेशों के अधिकारों तथा उनकी मानमर्यादा के लिये लड़ना हो गया।

बटलर कमेटी के कार्य

प्रथम विश्व महायुद्ध में राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सहायता के कारण भारत मन्त्री को यह घोषणा करनी पड़ी कि अँग्रेजी सरकार का ध्येय भारतवर्ष में क्रमिक उत्तरदायी शासन की स्थापना है। देशी नरेश इस घोषणा से भयभीत हुये तथा भावी उत्तरदायी भारत-सरकार के निरीक्षण से बचने का उपाय सोचने लगे। बृटिश भारत में जन-

आन्दोलन को नियन्त्रित कर सकना तो उनके शक्ति के बाहर की बात थी, लेकिन उन्होंने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि उनका सम्बन्ध सीधे वृटिश सरकार से स्थापित हो, न कि भारत-सरकार के माध्यम से। वृटिश-सरकार तथा रियासतों के सम्बन्ध की जाँच के लिये, दिसम्बर सन् १९२८ में सर बटलर की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई, जिसका नाम अध्यक्ष के नाम पर लिया जाता है।

नरेन्द्र-मण्डल की कार्य-समिति ने बटलर-कमेटी के सम्मुख नरेशों के हित की रक्षा के लिये निम्नलिखित माँगें और सुझाव रखे।

(१) भारतीय नरेश स्वतन्त्र शासक थे और उनका स्थान अन्तर्राष्ट्रीय नहीं तो कम से कम अर्द्ध-अन्तर्राष्ट्रीय अवश्य था।

(२) भारतीय रियासतों का सम्बन्ध सीधे इंगलैंड के सम्राट से था और वही रियासतों के अधिपति (Paramount Power) थे, भारत-सरकार नहीं। तत्कालीन निर्मित भारत-सरकार भी उनकी अधिपति न थी।

(३) अधिपति के सभी अधिकार सन्धियों, सम्बन्धों और सनदों आदि में परिमित थे। इसके अतिरिक्त अधिपति के अन्य अधिकार न थे।

(४) प्रथाओं पर अवलम्बित अधिपति के वे अधिकार और हस्तक्षेप, जो सन्धियों, सनदों और सम्बन्धों के विरुद्ध थे, निर्मूल, निराधार तथा अन्यायपूर्ण थे।

इन चारो माँगों पर खोज तथा उनकी जाँच कर बटलर-कमेटी ने अपनी राय दी। इन चार माँगों से यह तो स्पष्ट हो जाता कि देशी नरेश भारत की उत्तरदायी सरकार से जब इतना भयभीत थे, तब भारत की आजाद सरकार के बारे में वे क्या सोचते होंगे।

बटलर-कमेटी के विचार से कम्पनी के पूर्व भारतीय नरेश स्वतन्त्र शासक न थे। उनका सम्बन्ध सीधे इङ्गलैण्ड के राजा के साथ था। सन्धियाँ इङ्गलैण्ड के राजा और भारतीय रियासतों के बीच में थीं और उनका बन्धन हमेशा के लिये था। अधिपति शब्द की व्याख्या करते हुये कमेटी ने लिखा था, "इङ्गलैण्ड के राजा, जो सर्वदा भारत-सचिव और कौंसिल के सहित गवर्नर जनरल के द्वारा, जो ग्रेट बृटेन की पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी हैं, काम करते हैं।" कमेटी ने सन्धियों, सनदों तथा सम्बन्धों के साथ ही चलनों तथा प्रथाओं के बन्धन को भी आवश्यक बतलाया। अधिकार न होते हुये भी बटलर-कमेटी ने यह सिफारिश की कि बृटिश भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित होने पर, रियासतें अपनी अनुमति के बिना, उत्तरदायी भारत-सरकार के अधीन न की जाँय, वरन् वे एक वाइ-सराय के अधीन रखी जाँय, जो इङ्गलैण्ड के राजा के प्रतिनिधि के हैसियत से उनके साथ व्यवहार करे। बटलर-कमेटी के विचारों से कोई भी सन्तुष्ट न था किन्तु अन्त में ये सिफारिशें गोलमेज परिषदों में सही समझी गईं।

देशी राज्यों में राष्ट्रीय जागरण

इन रियासतों में जनता बहुत ही पिछड़ी थी, फिर भी भारतीय आन्दोलन की छाप वहाँ पड़ती थी। सत्याग्रह तथा 'विदेशी बहिष्कार' दोनों आन्दोलन रियासतों में पहुँचे। नरेशों से सुधार की माँग की गई। सन् १९२७ ई० में 'देशी राज्य लोक-परिषद' ने जन्म लेकर राजनीतिक जीवन में गति लाने की कोशिश की। इन लोगों ने मद्रास कांग्रेस में अपना प्रतिनिधि भी भेजा था। इस संगठन की माँगें ये थीं;

(१) संघ शासन विधान में उनके मौलिक अधिकार सुरक्षित हों तथा उन्हें संघ की नागरिकता प्राप्त हो।

(२) रियासतों के अधिकारों की रक्षा के लिये संघ में एक न्यायालय हो।

(३) संघ में सीधा प्रतिनिधित्व हो।

(४) रियासतों के न्यायालयों का सम्बन्ध सुप्रीम कोर्ट से हो।

इन लोगों ने अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने का निश्चय किया तथा बटलर-कमेटी के विचारों को फूट डालनेवाला तथा गलत बतलाया :

"रियासतों का बजरिये वाइसराय, सम्राट के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश भारत में फूट फैलाने की एक निन्दनीय चाल थी, जिसके प्रभाव से बृटिश भारत और भारतीय रियासतें दोनों को हानि पहुँचने की आशंका थी।"

गांधी जी रियासतों की आजादी के कट्टर समर्थक थे उन्होंने 'हरिजन' में १९३८ ई० में अपने लेख के द्वारा नरेशों को चेतावनी दी;

"या तो उन्हें (देशी नरेशों को) समाप्त होने के लिये तैयार होना चाहिये या अपनी जनता को पूर्ण उत्तरदायी शासन दे देनी चाहिये और स्वयं उसका संरक्षक बन जाना चाहिये तथा अपने इस श्रम का पारितोषिक ग्रहण करना चाहिये।"

कांग्रेस के नेता देशी रियासतों के भीतर की राजनीतिक दशा से उदासीन न थे। 'नेहरू-कमेटी' रियासतों पर खोज करने के लिये निर्धारित की गई, जिसने रियासतों की समस्या के सभी अङ्गों पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया। हरिपुरा-प्रस्ताव में कांग्रेस का दृष्टिकोण स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है ;

"कांग्रेस की मान्यता है कि देशी रियासतें भारत की अविभाज्य अङ्ग हैं और इन रियासतों में भी वैसी ही राजनीतिक, सामाजिक व

आर्थिक स्वाधीनता की स्थापना होनी चाहिये, जैसी वह देश के अन्य भागों के लिये चाहती है। कांग्रेस का 'पूर्ण स्वराज्य' वाला लक्ष्य पूरे देश के लिये है, जिसमें देशी रियासतें भी शामिल हैं। देश की जो एकता पराधीनता के काल में बनी रही है, उसे आजादी के दौर में भी हमें बनाये रखना है। कांग्रेस को केवल उस तरह का फेडरेशन स्वीकार हो सकेगा, जिसमें स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में देशी रियासतें भी शामिल हों और उनमें उसी तरह की लोकतान्त्रिक आजादी रहे, जैसी कि देश के अन्य हिस्सों में।"

बटलर-कमेटी से आजादी तक

देशी रियासतों की जन-चेतना के उदय तथा विकास में यह काल भारतीय युग की ही तरह महत्त्वपूर्ण है। सन् १९३५ ई० में भारत-शासन-सम्बन्धी एक्ट पास हुआ, जिसमें भारतीय रियासतों को महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया गया था। भारत में संघीय सरकार की स्थापना के लिये इन रियासतों का विलयन आवश्यक था। इन रियासतों का संघीय विधान-मण्डल में महत्त्वपूर्ण स्थान होता। रियासतों की जनता में आन्दोलन की प्रेरणायें बढ़ती ही गईं। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण रियासत का एक 'संयुक्त प्रजा मण्डल' भी बनाया गया। प्रजा मण्डल ने अपनी माँगों को जोर-शोर से प्रचारित किया।

(क) रियासतों का सम्बन्ध भारत-सरकार से हो; इङ्गलैण्ड के राजा से न हो;

(ख) संघ-सरकार में सम्मिलित होने के पूर्व रियासतों में वैसा ही शासन स्थापित होना चाहिये, जैसा बृटिश भारत के प्रान्तों में हो।

(ग) संघ-सरकार में रियासतों के प्रतिनिधियों को जनता के द्वारा चुना जाना चाहिये।

(घ) रियासतों में उत्तरदायी शासन स्थापित होना चाहिये।
(ङ) रियासतों के संविधानों में जनता के मूल अधिकारों का उल्लेख होना चाहिये।

अँग्रेजों की आखिरी चाल

अँग्रेज जाते-जाते पाकिस्तान तो बनाकर गये ही, साथ ही देशी रियासतों की समस्या को भी गम्भीर बनाकर गये। सन् १९४७ के 'भारतीय स्वतन्त्रता एक्ट' का प्रभाव केवल भारत पर ही नहीं, बल्कि देशी रियासतों पर भी पड़ा। अँग्रेजों ने अपनी सार्वभौम सत्ता की समाप्ति की घोषणा की। उनकी घोषणा में यह भी कहा गया कि सभी ५६२ रियासतें अपनी इच्छानुकूल नीति अपनाने के लिये स्वतन्त्र हैं, यहाँ तक कि उन्हें अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करने का भी हक हासिल है किन्तु साथ ही रियासतों को यह राय भी दी गई कि उन्हें पाकिस्तान या भारत में से किसी एक में सम्मिलित हो जाना चाहिये। जूनागढ़ तथा हैदराबाद ने भारत में सम्मिलित होने में बड़ी अड़चनें पैदा की और काश्मीर, यद्यपि भारत में सम्मिलित हो गया है, फिर भी साम्राज्यवादी उसे एक कृत्रिम समस्या बनाये रखना चाहते हैं।

सरदार पटेल का महान कार्य

आजादी के बाद बहुत-सी रियासतें, जो भारत के बीच भौगोलिक दृष्टि से घिरी थीं, पाकिस्तान में सम्मिलित होने की धार्मिक कल्पनायें करने लगीं। रियासतों की समस्या ऐसी थी, जिसके हल पर हमारा भविष्य निर्भर करता था। सरदार पटेल ने रियासती जनता के नाम एक अपील प्रकाशित की, जिसे भारतीय इतिहास कभी नहीं भूल सकेगा;

"यह देश और उसकी संस्थायें इस देश के लोगों की गौरवपूर्ण विरासत हैं। यह संयोग की बात है कि कुछ लोग ब्रिटिश भारत में

रहते हैं और कुछ रियासतों में, लेकिन सभी भारत की संस्कृति और उसके चरित्र के हिस्सेदार हैं। हम सब खून के रिश्ते और स्वहित के ख्याल से एक सूत्र में बँध सकते हैं। हमको कोई टुकड़ों में विभाजित नहीं कर सकता। हमारे बीच कोई अभेद्य दीवार खड़ी नहीं की जा सकती। इसलिये हमारे लिये यह अच्छा होगा कि हम परायों की भाँति संधियाँ करें, इसके बजाय दोस्तों की तरह एक जगह बैठकर कानून बनायें। मैं अपने दोस्तों को, राजाओं और जनता के प्रतिनिधियों को मित्रता और सहयोग की भावना के साथ संयुक्त प्रयत्न करने के लिये संविधान सभा में आने की दावत देता हूँ। हम सबको मातृभूमि की भक्ति और सबके हित की भावना से प्रेरित होकर इसमें शरीक होना चाहिये।"

सरदार पटेल की इस अपील में मातृभूमि की सेवा का बल था, जनता की सांस्कृतिक एकता की शक्ति थी तथा शान्तिमय समाजवाद की नैतिक क्षमता थी। उनका कथन स्पष्ट था, उसका अर्थ वैज्ञानिक, सत्य तथा प्रेममय था और नरेशों के लिये यह कठिन हो गया कि एक बड़े भाई की अपील को वे कैसे अस्वीकार करते ?

पहली जनवरी सन् १९४८ ईस्वी को उड़ीसा प्रान्त में देशी रियासतों के विलयन का कार्य प्रारम्भ हुआ और लगातार दो वर्ष तक होने के बाद पहली जनवरी सन् १९५० ई० को समाप्त हुआ। सबसे अन्त में कूच विहार की रियासत को पश्चिमी बङ्गाल में सम्मिलित किया गया। २१६ रियासतें अपने पड़ोसी प्रान्त में मिला दी गईं। इन विलयित रियासतों की जनसंख्या एक करोड़ २१ लाख तथा इनका क्षेत्रफल १,०८,७३९ वर्ग मील है। सरदार पटेल की सफल तथा कुशल नीति के कारण सम्पूर्ण भारतीय गणराज्य की ऐसी रक्षा-सम्बन्धी, राजनीतिक तथा प्रशासकीय एकता कायम हुई कि ऐसा विश्व में यह एक आश्चर्यजनक घटना समझी जाती है। इस महान क्रान्ति

की विशेषता थी इसका शान्तिमय साधनों से सम्पादित होना। भारतीय गणराज्य में नये प्रकार के राज्यों का उदय हुआ, वे इस प्रकार हैं;

अ वर्ग	ब वर्ग	स वर्ग	द वर्ग
१ आसाम	१ हैदराबाद	१ अजमेर	१ अंडमान और
२ बिहार	२ जम्मू और काश्मीर	२ भूपाल	२ नीकोबार टापू
३ बम्बई	३ मध्य भारत	३ बिलासपुर	
४ मध्य प्रदेश	४ मैसूर	४ कुर्ग	
५ मद्रास	५ पटियाला और पूर्वी पञ्जाब का रियासती संघ	५ दिल्ली	
६ उड़ीसा	६ राजस्थान	६ हिमाचल प्रदेश	
७ पञ्जाब	७ सौराष्ट्र	७ कच्छ	
८ उत्तर प्रदेश	८ ट्रावनकोर	८ मनीपूर	
९ पश्चिमी बङ्गाल	९ कोचीन	९ विन्ध्य प्रदेश	

इनमें 'अ' वर्ग के राज्य तो ब्रिटिश भारत के प्रान्त ही हैं। 'ब' वर्ग के राज्यों की स्थापना देशी रियासतों के विलयन के बाद हुई; जो बड़ी रियासतें थी, वे स्वतन्त्र रूप से एक नये राज्य में बदल गई और जो छोटी-छोटी रियासतें थीं, उनमें कई को मिलाकर एक संघ बना दिया गया। 'स' वर्ग में जो राज्य हैं, उनका शासन केन्द्र से होता है। 'द' वर्ग में काले पानी का स्वर्ग सम्मिलित हैं, जिसे अब सरकार बसाने की कोशिश कर रही है।

रक्तहीन क्रान्ति की महान विजय

देशी रियासतों का विलयन एक साधारण-सी घटना नहीं है। आज लोग बड़ी कटु आलोचना करते हैं कि देशी नरेशों को इतनी

बड़ी थैलियाँ क्यों दी जाती हैं, लेकिन समस्या का अध्ययन वस्तुगत परिस्थितियों में नहीं करते। समाजवाद भूगर्भ शास्त्र का 'हिम-युग' नहीं है कि विशाल दैत्याकार हिम-शिलायें आकर सारी पृथ्वी को सपाट बना देगीं और प्रत्यक्ष निर्मम समानता का राज्य हो जायगा। 'समानता' को प्राप्त करने में देशी रियासतों का विलयन एक गौरवपूर्ण दिशा है और इसी अर्थ में इस क्रान्ति की व्याख्या की जायगी। इस समानता की अगली अवस्था के लिये भी नेहरू जी चिन्तित रहते हैं और बार-बार नरेशों से राष्ट्रीय सहायता की अपील करते हैं। उन्होंने कहा;

"हम करीब पाँच करोड़ सालाना, मुझे पूरी तरह याद नहीं, राजाओं को देते हैं। मुझे यह देखकर दुख होता है कि ३०० या ४०० आदमियों को इतनी बड़ी रकम हमें देनी पड़ती है। लेकिन, फिर भी, याद रखिये कि सरदार पटेल ने जो समझौता एक महीने के अर्से में किया था वह हमारे लिये राजनीतिक दृष्टिकोण से हर तरह से फायदेमन्द था। वह समस्या जो सबसे ज्यादा मुश्किल समझी जाती थी, यकायक हल हो गई। अंग्रेजों से ज्यादा किसी को ताज्जुब न हुआ क्योंकि वे जानते थे कि इस काम में हमें बहुत बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा। सारी दुनिया को ताज्जुब हुआ और इस मामले को तय करने के हमारे ढङ्ग की वजह से हमारी इज्जत और बढ़ गई।"

यही नहीं इस कार्य में 'शान्तिमय ढङ्ग' की जो शानदार विजय हुई थी, उसने भावी समाजवाद के लिये सहज स्वाभाविक तथा वैज्ञानिक रास्ता प्रशस्त कर दिया।



भू-क्रान्ति की दिशायें

"जिस भूदान के लिये हम आये हैं, उससे सदा के लिये आफतें मिटनेवाली हैं। जैसे पानी हवा और सूरज की रोशनी का लाभ हर एक को मिलता है, वैसे ही जमीन का लाभ भी हरेक को मिलना चाहिये।....जमीन माँगना हर एक का हक समझा जाये। जमीन देना समाज का कर्त्तव्य समझा जाये। जैसे प्यासे को पानी माँगने का हक है, उसी तरह काश्त करनेवाले को जमीन माँगने का हक है। जैसे प्यासे को पानी देना धर्म है, वैसे ही काश्त करनेवालों को जमीन देना समाज का धर्म है।....भूदान यज्ञ का पहला काम है जमीन से मालिकी हटाना। सारी जमीन कुल गाँव की हो जाये। दो रोटी माँगना शरम की बात है, पर मिट्टी या जमीन माँगना शरम की बात नहीं। उसमें कुछ पसीना डालेंगे, तभी कुछ पैदावार होगी। हम तो काम करने का जरिया चाहते हैं, जो हर एक का हक है। जैसे तिलक महाराज ने कहा था कि स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, उसी तरह मैं कहता हूँ कि जो काश्त करना चाहता है, उसको जमीन मिलना उसका जन्म सिद्ध हक है।"

विनोवा।

भारतवर्ष प्रधानतः एक कृषि-प्रधान देश है और इसलिये विना कृषि-क्रान्ति के राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास सम्भव नहीं है। भूमि का वास्तविक स्वामी वही है, जो भूमिको स्वयं जोतता है। किसान ही धरती माता की सन्तान हैं और इसलिये उन्हीं को जमीन के उपयोग

तथा उपभोग का स्वामी होना चाहिये। किसानों के सामने आजादी के पहले बहुत-सी समस्यायें थी। भूमि सम्बन्धी अधिकारों की दो प्रणालियाँ प्रचलित थी। (१) जमीन्दारी प्रथा (२) रैयतवाड़ी प्रथा। पहली प्रथा का क्षेत्र उत्तरी भारत था और भूमि का ६५% इसी व्यवस्था के अन्तर्गत था। दूसरी प्रणाली दक्षिणी भारत में प्रचलित थी और ३५% भूमि इस प्रकार के प्रबन्ध से नियन्त्रित होती थी। रैयतवाड़ी प्रथा में किसान स्वयं भूमि का मालिक होता है तथा सरकार को सीधा कर देता है। जमीन्दारी-प्रथा में किसान तथा सरकार के बीच एक दलाल वर्ग था जिसका काम किसानों से मालगुजारी वसूल करके सरकार को देना था। जमीन्दार मनमाना रुपया लेता था और किसान की कमाई का अपने विलास में उपभोग करता था। किसान के पास पेट भरने के लिये भी काफी पैसे नहीं होते थे, तो उसके सांस्कृतिक विकास के प्रश्न की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जमीन्दार स्वयं श्रम नहीं करता था और इसलिये भूमि से उसका कोई सीधा सम्बन्ध न था, इसलिये जमीन को उपजाऊ बनाने की बात वह कभी सोच भी नहीं पाता था। किसानों के पास जमीन स्थायी रूप से न रहने के कारण वे भी उसे अच्छी तथा उपजाऊ बनाने की कोशिश न करते थे। इस प्रकार खेती गहरी (Intensive) न होकर विस्तृत (Extensive) की जाती थी।

किसानों की अवस्था

मालगुजारी न दे सकने के कारण किसान कर्ज से लदा रहता था। उसकी क्रय शक्ति नहीं के बराबर थी। उसके उत्पन्न अनाजों के विक्रय की कोई वैज्ञानिक व्यवस्था न थी, वह चतुर्मुखी शोषण का शिकार था। समाज में उसकी प्रतिष्ठा न थी, विश्वास न था; वस्तुतः वह अपने जीवन को अर्द्ध-मानव स्तर पर व्यतीत कर रहा था। आजाद

भारत किसानों की यह दशा सहन नहीं कर सकता था। ये समस्यायें कृषि क्रान्ति से ही सुधार सकती थीं इसलिये कृषि के सभी अङ्गों को सन्तुलित तथा विकसित करने के लिये 'प्रथम पञ्चवर्षीय योजना' में व्यापक प्रयास किया गया।

राष्ट्रीय हित पर प्रभाव

किसानों की यह दयनीय अवस्था राष्ट्र की उनकी निर्धनता का मूल कारण थी। ८५% जनता जहाँ पर कृषि के व्यवसाय से जीविका-निर्वाह करती हो, वहाँ पर कृषि-समस्या के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। सभी पैसा मालगुजारी के रूप में किसान भूमिपतियों को दे देता था और इसलिये उसमें क्रय शक्ति का सर्वथा अभाव था। देश में औद्योगिक विकास के लिये यह जरूरी है कि जनता में अनुकूल क्रय-शक्ति भी हो। इस तरह हम देखते हैं कि कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में राष्ट्रीय विकास किसानों की निर्धनता से ठप्प था। दोनों क्षेत्रों की उत्पादन-क्षमता के लिये जमींन्दारी व्यवस्था लकवा के समान थी। समाजवाद की नयी व्यवस्था के अनुकूल नये सामाजिक मूल्यों का सृजन तथा विकास भारत के ८५% किसानों में नवजीवन का संचार करके ही किया जा सकता था।

(१) इस समस्या का हल दो दिशाओं में हो रहा है। सरकारी कानूनों के द्वारा और (२) बिनोवा की मानसिक-क्रान्ति—भूदान यज्ञ के द्वारा। ये दोनों दिशायें इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न कर रही हैं, जो एक दूसरे की विरोधी नहीं, बल्कि पूरक है। सरकारी कार्यों के अध्ययन के भी दो पहलू हैं; पहले में तो भूमि के बाँटने की समस्या है और दूसरे में भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयास है।

नेहरू कमेटी के कार्य

सत्ता के हाथ में आते ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक

'आर्थिक कार्यक्रम कमेटी' का संघटन किया जिसके अध्यक्ष श्री नेहरू थे। उसने निम्नलिखित सिफारिशें प्रकाशित की;

"राज्य और किसान के बीच के सभी मध्यस्थ समाप्त कर दिये जाँय और इन दलालों की जगह पर लाभ का उद्देश्य न रखनेवाली एजेन्सियाँ कायम की जाँय, उदाहरण के लिये सहकारी समितियाँ।

"भूमि का उपयोग बेकारी को दूर करने के लिये हो। उन लोगों की जमीन 'ग्राम्य सहकारी समुदाय' की देखरेख में होनी चाहिये जो स्वयं उसे जोत नहीं सकते या तो वास्तविक जोताई के लिये जमीन को असली मालिकों को दे देना चाहिये।

"एक व्यक्ति के पास अधिक-से-अधिक कितनी जमीन हो सकती है, इसकी सीमा निर्धारित हो जानी चाहिये। इससे अधिक अतिरिक्त जमीन को ग्राम सहकारी समितियों के स्वामित्व में आ जाना चाहिये। छोटे-छोटे खेतों की चकबन्दी होनी चाहिये और भविष्य में खेतों को छोटे करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहिये।"

राष्ट्रीय कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन में ये सिफारिशें मान ली गई। इसके बाद एक और कमेटी बनाई गई जिसका नाम 'कांग्रेस कृषि-सुधार कमेटी' था और जिसके सभापति डा० कुमारप्पा थे।

कुमारप्पा कमेटी

कुमारप्पा कमेटी ने गम्भीर विचार करने के बाद जो वक्तव्य प्रकाशित किया, वह कृषि-क्रान्ति के इतिहास में निर्णायक महत्त्व रखता है और उसी के आधार पर केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने अपनी नीतियों को निर्देशित किया है। इस कमेटी की सिफारिशें ये हैं;

"बहुत बड़े भू-भागों पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त होना चाहिये। भूमि के स्वामित्व पर एक सीमा निर्धारित की जानी चाहिये, जो

हमारे दृष्टिकोण में आवश्यक जमीन से अधिक-से-अधिक तिगुनी होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जो अधिक जमीन शेष बचती हो, उसे 'लैण्ड कमीशन' के निर्धारित अधिकारियों के द्वारा ले लेनी चाहिये, जिसके लिये उचित मूल्याङ्कन के क्रमों के द्वारा मुआवजा दिया जाय और मुआवजे का सिद्धान्त निष्पक्ष पञ्चायतों के द्वारा तय किया जाय।''

कांग्रेस के १९५२ के चुनाव घोषणापत्र में यह बतलाया गया कि जमींदारी, जागीरदारी तथा इसी प्रकार की अन्य शोषणमूलक संस्थाओं को सरकार शीघ्रता से समाप्त करेगी। किसानों के लिये उचित मालगुजारी नियत की जायगी और नये पुनर्जीवित या सुधारे गये क्षेत्रों को खेतिहर मजदूरों में बाँटने की प्राथमिकता होगी, जो मिलकर सामूहिक कृषि करेंगे।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना

इस योजना में भी जमीन की समस्या पर विचार करते हुये यह बतलाया गया है कि यह निश्चित होना नितान्त आवश्यक है कि व्यक्तिगत स्वामित्व में अधिक से अधिक कितनी जमीन हो सकती है। और इस सीमा का सिद्धान्त उसमें निम्नलिखित शब्दों में निरूपित किया गया है;

"यह सीमा कितनी निश्चित की जाय, इसके लिये जरूरी यह है कि प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थितियों की रोशनी में सीमा को निश्चित करें; लेकिन सिद्धान्ततः उन्हें 'कुमारप्पा कमेटी' की सिफारिशों को ध्यान में रखकर सीमा नियत करनी चाहिये; जिसके अनुकूल व्यक्तिगत स्वामित्व में 'पारिवारिक भूमि' का अधिक से अधिक तिगुना न्यायोचित ठहराया जा सकता है।"

'पारिवारिक भूमि' की परिभाषा यह दी गई है;

"संक्षेप में पारिवारिक भूमि (Family Holding) की परिभाषा यह हो सकती है कि स्थानीय दशाओं के अनुकूल और प्रविधि (Technique) की वर्त्तमान परिस्थितियों के आधार पर कितने जमीन को एक सामान्य किसान परिवार जोत सकता है या कितने जमीन पर स्वयं कार्य कर सकता है; व्याख्या में परिवार का आकार वही है जो साधारणतः कृषि कार्यों में आवश्यकता होता है।"

इन कमेटियों तथा योजनाओं ने भूमि-क्रान्ति का प्रशासकीय सिद्धान्त बना दिया तथा जमीन्दारी-उन्मूलन के लिये सभी राज्यों के सामने मार्ग प्रशस्त कर दिया। धीरे-धीरे सभी राज्यों ने जमीन्दारी-उन्मूलन की दिशा में पग बढ़ाया है।

जमीन्दार न्यायालय की शरण में

जब जमीन्दारी-उन्मूलन का चक्र सामने आया, तो जमीन्दार लोग न्यायालय पहुँचे तथा अपने साम्पत्तिक स्वामित्व को उच्च न्यायालय के द्वारा वे सुरक्षित करना चाहते थे। कांग्रेस जमीन्दारी समाप्त करने के लिये पहले से ही तुली थी। शासन-सूत्र के हाथ में आते ही सन् १९४६ में सर्वप्रथम उत्तर-प्रदेश में 'जमीन्दारी-उन्मूलन' प्रस्ताव पर स्वीकृति दी गई। ७ जुलाई सन् १९४९ को इसके निमित्त व्यवस्थापिका सभाओं में बिल पेश किया गया। १६ जनवरी सन् १९५१ को यह बिल पास कर दिया गया तथा आगामी २६ जनवरी को राष्ट्रपति ने इस पर अपनी स्वीकृति दे दी। जमीन्दारों ने इसके कार्यान्वय को रोकने के लिये न्यायालय में कानूनी दाव-पेंच का सहारा लिया। उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा मध्यप्रदेश के जमीन्दारों ने न्यायालय में अपील की थी। सर्वोच्च न्यायालय ने जनता के पक्ष में अपना निर्णय दिया। उत्तर-प्रदेश तथा मध्यप्रदेश के कानून तो सर्वसम्मत से वैध घोषित किये गये, किन्तु बिहार-भूमि-सुधार कानून में थोड़ी कमी रह

गई। बिहार के कानून की धारा ४ में मुआवजा निश्चित करने के लिये समस्त आय को विशुद्ध आय में जाँचने की व्यवस्था थी और धारा १३ एक में राज्य सरकार को जमीन्दारों के पास बकाया लगान का ५० प्रतिशत उन्हें मुआवजे के रूप में देकर उसकी वसूली का अधिकार दिया गया था। न्यायाधीशों ने बहुमत से इसे अव्यवहारिक कहा, लेकिन उन्हें हटाकर जमीन्दारी-उन्मूलन को कार्यान्वित करने की आज्ञा दी।

विभिन्न राज्यों में पास किये गये 'जमीन्दारी-उन्मूलन' कानूनों को १९५१ के विधान-संशोधन कानून के द्वारा वैधता प्रदान की गई तथा सुप्रीम कोर्ट की कॉस्टीच्यूशनबेंच ने १९५१ के इस विधान-संशोधन कानून को वैधानिक घोषित कर दिया। जस्टिस शास्त्री ने १५ पेज का निर्णय सुनाया, जिस पर चीफ जस्टिस, जस्टिज शास्त्री, जस्टिस दास और जस्टिस ऐयर के हस्ताक्षर थे। यह फैसला भूमि-क्रान्ति के इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय है तथा न्याय के जन-नियन्त्रण को प्रमाणित करता है।

उत्तरप्रदेश में जमीन्दारी उन्मूलन

जमीन्दारी-उन्मूलन के कार्य का श्री गणेश उत्तरप्रदेश में हुआ। इस कानून का प्रभाव छोटे बड़े करीब २० लाख जमीन्दारों पर पड़ा तथा राज्य की पाँच करोड़ जनता का इससे हित हुआ। उत्तर-प्रदेश में ७ करोड़ २२ लाख एकड़ भूमि में से ६ करोड़ २ लाख एकड़ जमीन इस कानून से प्रभावित हुई। इसमें जङ्गल, सड़कें, नदियाँ तथा रेलवे लाइन आदि सभी सम्मिलित हैं। ३ करोड़ ६५ लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि जमीन्दारों के स्वामित्व से मुक्त हो गई। करीब एक करोड़ ऊसर किन्तु खेती योग्य तथा बिलकुल बंजर भूमि भी जमीन्दारों के हाथ से निकल गई तथा ग्राम पंचायतों को दे दी गई। केवल खुदकाश्त जमीन जमीन्दारों को छोड़ दी गई।

उत्तरप्रदेश में लगभग २६ लाख २७ हजार एकड़ जङ्गल हैं, जिनमें ⅚ भाग पर जमीन्दारों का अधिकार था। जमीन्दारी-उन्मूलन के बाद इन जङ्गलों पर राज्य का कब्जा हो गया।

सबसे बड़े जमीन्दार बलरामपुर और आवांगढ़ की रियासतों के मालिक थे। राज्य में केवल ३० हजार बड़े जमीन्दार थे जो २५० रुपया से अधिक मालगुजारी देते थे। शेष लगभग १६ लाख १७ हजार ऐसे जमीन्दार थे जिन्हें आर्थिक स्थिति दृढ़ करने के लिये पुनर्वास सहायता दी जा रही है। जमीन्दारी-उन्मूलन के लिये मुआवजा के ऋण पत्र दिल्ली से 'पबलिक हेड आफिस' के द्वारा दिये गये जिनका मूल्य २०) से लेकर १०,०००) तक था। मुआवजे की रकम से जमीन्दार जमीन्दारी की समाप्ति के बाद भी अपना आर्थिक निर्माण कर सकते हैं। यह जमीन्दारी उन्मूलन का व्यापक रूप केवल एक राज्य का है, राष्ट्रीय स्तर पर इसके महत्व को आसानी से समझा जा सकता है।

कृषि के साधनों का विकास

सन् १९४७ में १६ करोड़ ८० लाख एकड़ जमीन में खेती होती थी। ३२ करोड़ की आबादी के अनुपात से २० प्रतिशत जमीन की कमी थी। अँग्रेजों ने कृषि के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया, इसलिये प्रति एकड़ उपज भारत में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम थी। भारत में गेहूँ ६६० पौंड प्रति एकड़ होता है जब कि मिश्र में वह पैदावार १६१८ पौंड है। सन् १९४९ के प्रारम्भ से ही सरकार ने खाद्यान्नों के स्वावलम्बन का आन्दोलन चलाया। १५५०-५१ में ४८ लाख टन अनाज उत्पन्न करने का लक्ष्य था। सन् १९५१ में यह निश्चय किया गया कि संकटकालीन आवश्यकताओं के लिये 'केन्द्रीय सुरक्षित भंडार' का सङ्गठन किया जाय। बीच में बाढ़, सूखा

तथा भूकम्प आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण ५५ लाख टन अनाज नष्ट हो गया, इस कमी को पूरा करने के लिये १९५१ में विदेशों से अनाज मँगवाना पड़ा। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में अन्न के उत्पादन में ७६०००० टन अनाज अधिक पैदा करने का निश्चय किया गया। परती भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये सरकार ने १९४७ में एक 'केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था कायम की। उसके पास १८० ट्रैक्टर थे। उत्तरप्रदेश के कुछ भागों में कांस नाम की जङ्गली घास होती है, जिसकी जड़े गहराई तक जाती हैं। सरकार ने इस जमीन के सुधार में १८ लाख रुपया व्यय किया और इसको उपज की कीमत करीब-करीब ६० लाख रुपया है। इसमें अनाज अन्य क्षेत्रों की फसल से भी अच्छा हुआ।

सन् १९४९ में ३७५ भारी ट्रैक्टर खरीदने के लिये १ करोड़ डालर का ऋण विश्व बैंक से लिया गया। १९४९-५० की समाप्ति में केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था ने १,८३,३७४ एकड़ भूमि को विभिन्न राज्यों में खेती के योग्य बनाया, जिससे ६१००० टन अधिक अनाज पैदा हुआ। सिंचाई तथा कूड़ा करकट के खाद-निर्माण के आन्दोलन से ३४ लाख ४० हजार टन अतिरिक्त अनाज उत्पन्न हुआ। ३०० नलकूप लगाने का कार्य किया गया। उत्तरप्रदेश के इटावा जिले में प्रति एकड़ अनाज की पैदावार ९ मन से बढ़कर २३ मन हो गई। फसल-प्रतियोगिताओं के आयोजन से किसानों को प्रोत्साहन मिला। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन पर सन् १९५०-५१ तक ५८ करोड़ रुपया खर्च किया गया था, जिससे ३४ लाख ४० हजार टन अधिक अनाज पैदा हुआ था। अतः ५८ करोड़ की पूँजी से पहले साल में ११६ करोड़ रुपया तथा उसके बाद ७२ करोड़ रुपया बचाया गया।

पटसन और रूई की पैदावार को बढ़ाना भी विदेशी विनिमय के लिये जरूरी था। पटसन उद्योग के लिये ७२ लाख ५० हजार पटसन

की गाँठों की जरूरत थी, किन्तु पाकिस्तान के बनते ही ५५ लाख गाँठों की कमी पड़ गई। रूई की वार्षिक खपत ४० लाख ७० हजार गाँठ है लेकिन विभाजन के बाद २६ लाख ७० हजार गाँठ की उपज ही बच गई। इस कमी को पूरा करने के लिये खाद्यान्नों के कुछ क्षेत्रों में रूई और पटसन की खेती शुरू की गई जिससे ६००,००० टन अनाज की कमी पड़ी, जो पटसन तथा रूई की उपज से पूरी ही नहीं हुई, बल्कि १६० करोड़ ८० लाख रुपये के लगभग वास्तविक लाभ हुआ।

खाद बनाने का भी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। सन १९४९–५० में ८९० म्युनिपैलिटियों ने शहरी गन्दगी से १० लाख टन खाद तैयार किया और ४०००० देहातों में इसके अलावा ५०,००,००० टन खाद तैयार किया। सिन्दरी के सरकारी कारखाने से ३५०० टन खाद तैयार होने लगा, जिससे खाद की राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्त्ति हो गई।

सस्ती सिंचाई तथा नदियों के नियन्त्रण के लिये १३५ नदीघाटी योजनायें पहली योजना के प्रारम्भ से ही कार्यान्वित की जा रही थी, जिनमें ११ बहुमुखी हैं, ६० सिंचाई की हैं तथा ६४ विशुद्ध बिजली उत्पन्न करने के लिये हैं। १९४९-५० में विभिन्न सिंचाई और बिजली की योजनाओं पर ३,९४, ६०० रुपिया व्यय किया गया। तथा अगले साल ७८,५९,००,००० रुपियों का व्यय हुआ। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में अनुमानित व्यय का ५० प्रतिशत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर ही खर्च किया गया। किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये जमीन्दारी-उन्मूलन तथा सहकारिता-आन्दोलन चलाये गये। कृषि-क्रान्ति में सरकार इस तरह दो दिशाओं में बढ़ी है। एक तो किसानों के व्यक्तिगत अवस्था को सुधारना, उन्हें भूमि का वास्तविक स्वामी बनाना तथा कृषि के साधनों की बहुमुखी उन्नति करना।

विनोवा का भूदानयज्ञ

भू-क्रान्ति की एक तीसरी तथा और अधिक महत्त्वपूर्ण दिशा है, विनोवा का भूदान यज्ञ। आचार्य विनोवाभावे गांधी जी के दार्शनिक उत्तराधिकारी हैं। उन्होंने समाज की सबसे मौलिक आवश्यकता को हल करने का अपना शान्तिमय ढङ्ग निकाला है। यह कृषि-क्रान्ति के लिये नया प्रयोग है। समाजवादी मूल्यों के विकास में विनोवा की इस नई क्रान्ति का सैद्धान्तिक योग अत्यधिक ही महत्त्वपूर्ण है। नेहरू जी इसके बारे में लिखते हैं;

"आचार्य विनोवा ने यह एक असामान्य आन्दोलन शुरू किया है। अ० भा० कांग्रेस कमेटी तथा कांग्रेस के खुले अधिवेशन ने खुशी-खुशी और उत्साह के साथ इसका समर्थन किया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि चूँकि जमीन की समस्या को आचार्य विनोवा ने उठा लिया है, इसलिये सरकार की अब कोई जिम्मेदारी नहीं रही। भूदान आन्दोलन एक क्रान्ति पैदा कर रहा है और मुल्क की हवा में एक परिवर्त्तन ला रहा है। यह एक ऐसी विचित्र घटना है, जिसको अर्थ-शास्त्र या दूसरे विशेषज्ञ समझा नहीं सकते। लेकिन यह आन्दोलन किसी भी हालत में कानून की जगह नहीं ले सकता।"

(नई क्रान्ति, पृ० ७)

भूदानयज्ञ की अवस्थायें

भूदानयज्ञ के दार्शनिक विचारों का प्रारम्भ चार साल पहले तैलंगाना की कर्म-भूमि में हुआ। वहाँ पर रणदिवे-काल में कम्यूनिष्ट पार्टी ने समाजवादी क्रान्ति के लिये हिंसक प्रयास किया था। वहाँ पर भूमिपति तथा किसान एक दूसरे से तीव्र शत्रुता रखते थे और शत्रुता के इस भाव को दूर करने में विनोवा भावे का ध्यान भूमि-समस्या तथा उसके हल की ओर गया। इस विशेष परिस्थिति से

विनोबा को वह प्रेरणा मिली जिसे उन्होंने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का रूप दे दिया। पहले उन्होंने कार्यकर्त्ताओं में विश्वास पैदा करने के लिये उत्तर-प्रदेश में ५ लाख एकड़ तथा पूरे देश में २५ लाख एकड़ जमीन पाने का लक्ष्य निर्धारित किया। इस लक्ष्य में सफलता मिलने के कारण कार्यकर्त्ताओं में आन्दोलन के प्रति विश्वास उत्पन्न हो गया। इसके बाद में कृषियोग्य भूमि का $\frac{1}{6}$ भाग माँगने का निश्चय किया गया तथा बिहार में अद्वितीय सफलता मिली। भूदानयज्ञ में करीब तीन लाख लोगों ने दान दिया है और यह बड़े ही महत्त्व की बात है, क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव-मूल्यों के परिवर्त्तन से है। आचार्य भावे ने अपने आन्दोलन की पाँच सीढ़ियाँ इस प्रकार गिनायीं हैं;

"पहली सीढ़ी में स्थानीय उलाहना को दूर करना, जिसे मैंने 'तैयारी की अवस्था' का नाम दिया है। दूसरी सीढ़ी में सम्पूर्ण देश में इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूति पैदा करने की कोशिश है जिससे कि सभी लोगों का ध्यान इधर केन्द्रित हो जाय तथा हम भी लोगों की प्रतिक्रियाओं को समझें। इस सीढ़ी का नाम मैंने 'ध्यान आकर्षित करना' रखा है। तीसरी सीढ़ी में कार्यकर्त्ताओं में आन्दोलन के प्रति आत्म-विश्वास उत्पन्न किया गया। इस सीढ़ी को मैं 'श्रद्धा की किलेबन्दी' कहता हूँ। चौथी सीढ़ी में हम लोगों ने यह प्रयोग किया कि $\frac{1}{6}$ वें भाग जमीन को प्राप्त करने में हमें कहाँ तक सफलता मिलती है। इसका नाम मैंने 'विस्तृत भूदान' रखा है, और पाँचवों सीढ़ी में हमारा कार्य सभी गाँवों को परिवार या कुटुम्ब में परिवर्त्तित करना है। इसे ग्राम-राज्य या रामराज्य कहा जा सकता है। इस अन्तिम अवस्था को मैं 'भू-क्रान्ति' कहता हूँ।" ('सर्वोदय' सितम्बर १९५५ (अँग्रेजी) पृष्ठ ८१)

कुटुम्ब की भावना भारत के लिये अति प्रचीन तथा अत्यन्त उत्कट है। यदि इस भावना को सम्पूर्ण ग्राम की ओर दिशान्तरित कर

दिया जाता है तो सरलतापूर्वक एक ग्राम्य-कुटुम्ब की भावना सफल हो जायगी ।

भूदान के कार्य का विस्तार

'भूदानयज्ञ' के आलोचक इसे एक धार्मिक नाटक मानते हैं। इस महान् आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में तो इसे एक असम्भव कल्पना समझा जाता था, लेकिन शान्तिमय साधनों से कितने महत्त्व-पूर्ण तथा महान कार्य किये जा सकते हैं—इसको भूदान-यज्ञ के प्रयोग में देखा जा सकता है। भूदान में अभी तक किये गये कार्यों का आँकड़ा नीचे दिया गया है;

१० फरवरी सन् १९५५ तक प्राप्त तथा वितरित भूदान

राज्य	एकड़ प्राप्त	एकड़ वितरित	परिवार की संख्या
१. बिहार	२२,३६,२६५	५,६८४	२५९०
२. उत्तर प्रदेश	५,१६,८१९	६७,०४०	२३,११३
३. राजस्थान	३,३२,३२५	६,६५३	१,४०९
४. उड़ीसा	१,२८,८१४	७०८	२१४
५. हैदराबाद	१,०५,१३०	२५,१२९	५,६१४
६. मध्य प्रदेश	८९,०५८	१०,७६८	१,९५८
७. मध्यभारत	६२,४६५	९१	१३
८. सौराष्ट्र	१४,०००	....	....
९. गुजरात	३७,१२०	२,१२८	६५७
१०. तमिलनाड	२९,३३४	३१६	११५
११. आंध्र	२१,४११	१६	३८
१२. केरल	२८,०३२	....	....
१३. महाराष्ट्र	२५,०९५	४२३	

राज्य	एकड़ प्राप्त	एकड़ वितरित	परिवार की संख्या
१४. पंजाब	१०,६६८	७३	१६
१५. दिल्ली	६,२४५	६०	२५
१६. बंगाल	६,०२८	६७५	४६१
१७. विन्ध्य प्रदेश	५,६०८	५८०	२१६
१८. मैसूर	५,४३५	....	....
१९. हिमाचल प्रदेश	२,०२५	....	....
२०. कर्नाटक	२,३०८	२,३६	....
२१. आसाम	१,६६२	....	....
२२. बम्बई	१२३	....	....
	३६,६६,३००	१,२०,६१३	३६,४६६

भूदान-पत्र की कुल संख्या	....	....	....	४,१३,८८३
जीवन दानियों ,, ,, ,,	....	....	....	१,६७४
सम्पत्तिदान पत्रों ,, ,, ,,	....	....	....	१,५४६
समस्त ग्राम-दान ,, ,, ,,	....	....	....	११३

भूदान का व्यापक दर्शन

भूदान का आन्दोलन भूमि-क्रान्ति से प्रारम्भ करता है, क्योंकि भारत ही क्या एशिया में भूमि-समस्या की प्राथमिकता है; लेकिन भूदान यज्ञ समाजवादी धारणाओं के विकास में एक सर्व जीवन व्यापी दर्शन उपस्थित करता है। जमीन के पाने के बाद उसे वितरित करना भूदान का कर्त्तव्य हो जाता है। भूदान से श्रमदान, सम्पत्तिदान, ग्राम-दान तथा जीवन दान जैसी और बहुत सी शाखायें स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित हुई हैं तथा वे भारत के समाजवादी युग की रूपरेखा में दार्शनिक रङ्ग भर रही हैं।

प्रथम पंचवार्षिक योजना

"प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ श्री नेहरू के नेतृत्व में स्थापित भारतीय जनतन्त्र की पहली राष्ट्रीय सरकार ने उपनिवेशवाद की कड़वी विरासत को समाप्त करने के निश्चय की घोषणा की है। सरकार का ध्यान कृषि-उत्पादन, उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं को विकसित करने में केन्द्रित है। पिछले सालों में भारतीय सरकार को नई-नई सिंचाई की योजनाओं तथा उपजयोग्य जमीन में वृद्धि करने के कारण अन्न-उत्पादन में सफलता मिली है। बिजली की शक्ति भी पहले से अधिक बढ़ायी गई है।

देश से निरक्षरता दूर करने के लिये भी राष्ट्रीय सरकार सचेष्ट है। जन-स्वास्थ्य-सेवाओं का विकास किया जा रहा है। भारत के विभिन्न भागों में दक्षिणी पूर्वी एशिया से सबसे बड़े चिकित्सा केन्द्र स्थापित किये गये हैं।"

—"प्रवदा"

शान्ति के साधनों से समाजवाद की कल्पना करने वाले नेता यह अच्छी प्रकार समझते थे कि समानता का अर्थ केवल राजनीतिक नहीं। भीखमंगे, बेकार तथा अन्य श्रम से वंचित लोगों के द्वारा किसी अच्छे लोकतन्त्र की स्थापना भी सम्भव नहीं। समाजवादी मूल्यों की मर्यादा आर्थिक परिपूर्णता में ही क्रियासाध्य है। कुछ लोग सोचते हैं कि गांधीवादी दर्शन सन्तोष की सीमायें भगवान के भजन में देखता है। यदि ऐसा होता तो साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की क्या आवश्यकता थी, गांधीजी सभी को उपदेश दे सकते थे कि लोग हिमालय की

५२ से लेकर १९५५-५६ तक है। कुल व्यय का अनुमान २०६९ करोड़ रुपये के लगभग था और वित्त के साधनों में, आन्तरिक साधनों से १२५८ करोड़, विदेशी कर्जों से १५६ करोड़, घाटे के बजट से २९० करोड़ तथा घाटे की ३६५ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया था। स्वतन्त्र भारत में योजना के द्वारा क्रमिक तथा वैज्ञानिक विकास का यह पहला प्रयास था।

प्राथमिकता का क्रम

राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल इस योजना में समस्याओं को क्रम से प्रमुखता दी गई। इस क्रम की प्राथमिकता को देखकर ही हमें यह अनुभव हो सकता है कि यह देश की जनता की तत्कालीन आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया है।

(१) इस योजना के अन्तर्गत शरणार्थी और बेघरबार लोगों के लिये पुनर्वास का प्रबन्ध सबसे पहले करना।

(२) कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाली औद्योगिक प्रणालियों को विकसित करना।

(३) खेती की उन्नति के लिये सिंचाई और शक्ति-उत्पादन तथा साथ ही कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करना।

(४) रोजगार तथा उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाले उद्योगों को प्रोत्साहित करना और भौतिक तथा शिल्प साधनों की ओर भी ध्यान देना।

(५) लोहा, इस्पात और रासायनिक पदार्थों के उद्योगों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना।

(६) वर्त्तमान औद्योगिक व्यवस्था के उन दोषों को दूर करना, जो पर्याप्त शासन-सम्बन्धी तथा राजनीतिक सेवाओं का अभाव तथा

विभिन्न राज्यों में आर्थिक अवनति के स्तरों में अन्तर उत्पन्न कर सकते हैं।

इस योजना में कृषि, सिंचाई तथा शक्ति या बहुधन्धी योजनाओं को प्रधानता दी गई है, क्योंकि देश को खाद्यान्नों में आत्म-निर्भर बनाये बिना कोई राष्ट्रीय विकास सम्भव नहीं था। योजना में प्रस्तावित प्राथमिकता के अनुसार विभिन्न कार्यों के लिये कुल व्यय को इस प्रकार बाँटा गया;

(१) कृषि तथा सामुदायिक विकास	१७·४	प्रतिशत
(२) सिंचाई तथा शक्ति	२७·२	,,
(३) समाज-सेवा	१६·४	,,
(४) यातायात और संवादवाहन	१४·०	,,
(५) पुनर्वासन	४·१	,,
(६) उद्योग धन्धे	८·४	,,
(७) फुटकर	२·५	,,

राज्य तथा केन्द्रीय सरकार में इस योजना के व्यय का बँटवारा इस प्रकार किया गया था;

केन्द्रीय सरकार	१२४१	करोड़	रुपया
'क' वर्ग के राज्य	६१०	,,	,,
'ख' वर्ग के राज्य	१७३	,,	,,
'ग' वर्ग के राज्य	३२	,,	,,
जम्मू और काश्मीर	१३	,,	,,

योजना का संभावित लक्ष्य

योजना में निम्नलिखित लक्ष्यों पर उत्पादन को पहुँचाने का निश्चय किया गया था।

(क) खाद्यान्नः—१६४६–५० में ५४०००००० टन से बढ़कर ६,१६,००,००० टन अर्थात् ७६००००० टन की वृद्धि।

यह वृद्धि इस प्रकार होगी; ४०००००० टन चावल, २०००००० टन गेहूँ २०००००० टन ज्वार बाजरा तथा १०००००० टन चना, आदि

(ख) कपास २६·७ लाख बेल से ४२·२ लाख बेल अर्थात् १२·५ लाख बेल की वृद्धि। यह वृद्धि ४२ प्रतिशत है।

(ग) जूट ३३ लाख बेल से ५३·६ लाख बेल तक अर्थात् २०·६ लाख की वृद्धि जो ६३ प्रतिशत है।

(घ) गन्ना ५६०००००० लाख टन से ६३०००००० लाख टन, जिसमें ७००००० टन या १२% वृद्धि है।

(च) तेलहन ५१००००० टन से ५५००००० टन या ४००००० टन अर्थात् ८ प्रतिशत वृद्धि।

(छ) कच्चा लोहा १५·७ लाख टन से १६·५ लाख टन

(ज) सिमेंट २६·६ लाख टन से ४५ लाख टन

(झ) अलमुनियम ३·७ लाख टन से १२ लाख टन

(ट) सूत ११७६०००००० पौंड से १६४०००००० पौंड

(ठ) सूती कपड़ा ३७०८०००००० गज से ४७००००००० गज

(ड) हैंडलूम ८१००००००० गज से १७००००००० गज

(ढ) जूट के सामान ८६२००० टन से २२००,००० टन

(त) बाइसिकिल ६६००० से ५३०,०००

राष्ट्रीय पूँजी की वृद्धि

ऐसा अनुमान किया गया था कि पूँजी-रचना की दृष्टि से अतिरिक्त राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष २० प्रतिशत वृद्धि होती जायगी और १६५५–५६

तक राष्ट्रीय आय बढ़कर १०,००० करोड़ रुपये हो जायगी अर्थात् उसमें २५ प्रतिशत वृद्धि होगी। यदि १९५६–५७ से प्रत्येक वर्ष ५० प्रतिशत अतिरिक्त लाभ सम्भव हुआ तो पचीस साल के बाद प्रत्येक व्यक्ति की आय दुगुनी हो जायगी। इस सम्बन्ध में हर साल बढ़ती हुई आबादी को भी ध्यान में रखा गया है, जो प्रतिवर्ष नागरिकों की संख्या में वृद्धि करती रहेगी। योजना के महत्त्व को हमें भारत की जनता की संख्या को ध्यान में रखकर समझना पड़ेगा।

योजना की मौलिक विशेषतायें

यदि इन आँकड़ों का ध्यान से अध्ययन किया जाय, तो योजना की प्रकृति स्पष्ट हो जायगी। सरकार इसमें राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की पुनर्रचना का उद्देश्य रखती है। रचना की विशेषतायें निम्न-लिखित हैं;

(१) कृषि-समस्याओं पर अधिक ध्यान

(२) पुनर्वास की समस्या

(३) उद्योगों के प्रति उदासीनता

(४) पूँजी की वृद्धि, जिससे कि राष्ट्रीय आय प्रत्येक नागरिक के लिये औसत दुगुनी हो जाय।

(५) राष्ट्रीयकरण की ओर ध्यान न देकर इस अवस्था में राज्य का ध्यान उन उद्योगों में केन्द्रित करना, जो प्रारम्भ हो गये हैं;

(६) वित्तीय नियन्त्रण

कृषि पर अधिक जोर क्यों ?

सरकारी नीति खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता की थी। सन् १९४८ से ७५० करोड़ का खाद्यान्न बाहर से मँगाना पड़ता था।

यदि यह रुपया बचाया जा सकता तो देश के औद्योगिक विकास में इसे खर्च किया जा सकता था। 'कृषि-सुधार से किसानों की हालत में सुधार होता तथा उनकी क्रय-शक्ति बढ़ने से राष्ट्रीय उद्योगों को राष्ट्रीय बाजार मिलना सम्भव होता, जिससे उनके पनपने की सम्भावना बढ़ती। खेती के लिये जो योजनायें थी, उनमें से बहुत बहुउद्देशीय थीं, जिनमें साथ ही साथ शक्ति का विकास, बाढ़ों का नियन्त्रण, मिट्टी का अनावरण आदि समस्या भी सुलझायी जा सकती थी। कृषि पर ध्यान देने का दूसरा कारण वर्त्तमान भारतीय उद्योगों को कच्चा माल देना भी है। पाकिस्तान बनने से जूट तथा कपास के क्षेत्रों से भारतवर्ष वंचित रह गया था, उनकी पूर्ति के लिये कृषि के साधनों का विकास आवश्यक था। सम्भावित लक्ष्य में जूट की वृद्धि ६३ प्रतिशत तथा कपास की ४२ प्रतिशत आँकी गई है। यदि जूट तथा कपास के उत्पादन पर ध्यान नहीं केन्द्रित किया गया होता तो भारत के विदेशी व्यापार पर बड़ा गहरा धक्का लगता। खाद्यान्न के साथ ही साथ इन कच्चे मालों की आवश्यकता ने भी कृषि की प्राथमिकता को अनिवार्य-सा बना दिया! आलोचकों ने इस नीति को प्रतिक्रियावादी तथा भारत को कृषि-प्रधान या पिछड़ा देश बनाये रखने की चाल तक कहा, लेकिन आज के युग में कृषि तथा उद्योग दोनों का पूरक विकास करके ही कोई राष्ट्र आगे बढ़ सकता है। खाद्यान्नों की कमी भारत को एक महान चुनौती थी।

योजना की सार्थकता

यह सत्य है कि योजना में सर्वाधिक महत्त्व कृषि को दिया गया है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुल व्यय का ५० प्रतिशत कृषि की उन्नति में लगाने की यह योजना है। योजना में कृषि की उन्नति और सिंचाई

तथा बिजली की योजनाओं की आवश्यकता पर जो जोर दिया गया है, वह अनावश्यक नहीं है। राष्ट्रीय खाद्यान्नों की कमी को दृष्टि में रखकर ही ऐसा किया गया था और यही कारण है कि आज हमारा देश खाद्यान्नों में आत्म-निर्भर ही नहीं, बल्कि अन्य देशों को निर्यात करने की भी क्षमता रखता है। दूसरा महत्त्व इस योजना में उपभोक्ताओं के लिये अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन करना है, जिसकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि देशी बाजार में विदेशी मालों की बिक्री कम हो तथा स्वदेशी का प्रचार हो। स्वदेशी-आन्दोलन गांधी जी के बुनियादी सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। उद्योगों के नये विकास को व्यक्तिगत साहस की सीमा में छोड़ दिया गया है; इस नीति की कड़ी आलोचनायें की गईं हैं। प्रश्न तो यह था कि सीमित साधनों का उपयोग राष्ट्रीय विकास में सर्वोत्तम किस प्रकार किया जाता। नेहरू जी ने द्वितीय योजना के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुये स्पष्ट रूप से कहा है कि हम सदा अन्य देशों पर मशीनरी के लिये निर्भर नहीं रह सकते, इसलिये बड़े उद्योगों को द्वितीय योजना में प्राथमिकता दी गई है। प्रथम योजना में केवल यही तय किया जा सका था कि लोहा, सीमेंट, रासायनिक खाद, मशीन के औजार आदि के उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाई जाय। नये उद्योगों की ओर सरकार जानबूझ कर शान्त थी; क्योंकि जिन औद्योगिक संस्थापनाओं में सरकार ने पूँजी लगाया था, उन्हें पूरा करना तथा उनकी समुचित व्यवस्था पहले जरूरी थी। यद्यपि सरकार के द्वारा सञ्चालित औद्योगिक संस्थापनाओं की संख्या कम थी, फिर भी यह अनुमान लगाया गया था कि योजना के समाप्त होने पर कुछ क्षेत्रों में देशी माँग को अच्छी तरह पूरा किया जा सकेगा और कुछ क्षेत्रों में तो अतिरिक्त माल विदेशों को भी भेजा जा सकेगा।

इस योजना में यह कोशिश की गई थी कि भारत की अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के पूर्व के स्तर पर ले आया जाय। इस योजना में

बहुत सी परिस्थितिजन्य कमियाँ थी, जिन्हें ध्यान में रखकर ही हम द्वितीय योजना को बनायेगे।

भविष्य के लिये शिक्षायें

देश अब खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्म-निर्भर हो गया है। नवीन योजना के लिये वह परिस्थितियाँ नहीं है जो प्रथम योजना को एक कृषि प्रधान योजना का रूप देने के लिये जिम्मेदार हैं। प्रथम योजना के लक्ष्यों को बहुत क्षेत्रों में हमने पार कर लिया है किन्तु बहुत क्षेत्रों में लक्ष्य तक हम नहीं पहुँच सके। आगे योजना बनाते समय हमें समाजवादी भारत की बुनियादी आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ेगा। इस योजना के निर्माण में हमें देशी तथा विदेशी दोनों ओर परिवर्त्तित दिशाओं का ध्यान रखना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भारत के मजबूत हुये हैं। रूस तथा चीन से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है। देश बँटवारे से उत्पन्न विकराल समस्याओं से मुक्त है तथा 'आवडी कांग्रेस' ने नये विकास के लिये एक सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया है। इन परिस्थितियों को रखकर नई योजना बनाई जानी चाहिये।

नई योजना में लोक क्षेत्र का विकास स्पष्ट तथा तीव्र होना चाहिये। समाजवाद को सच्चे अर्थ में कायम करने के लिये व्यक्तिगत क्षेत्र को धीरे-धीरे लोक-क्षेत्र में शान्तिमय तरीकों से विलीन करना होगा। आर्थिक क्षेत्र में इस सत्य को ध्यान में रखकर ही योजना-निर्माण का काम किया जायगा। योजना में दूसरी बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है उद्योगों पर जोर। कृषि पर से ध्यान नहीं हटाया जा सकता, लेकिन अब उद्योगों को प्राथमिकता देना अत्यावश्यक है। उद्योगों में भी मशीनरी के निर्माण की ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। पूँजी की वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के बीच के अनुपात को सभी अवस्थाओं के लिये सन्तुलित करना पड़ेगा। नई

योजना में अनुशासित नियन्त्रण तथा जन-सहयोग का होना उसकी सफलता की आवश्यक दशा है। दीर्घकालीन लक्ष्यों का अल्पकालीन लक्ष्यों से मेल होना चाहिये तथा व्यवहारिक सफलता के लिये जनता के सहयोग को आकर्षित करना पड़ेगा, जिसके लिये स्वाभाविक परिस्थितियाँ विकसित हो गई हैं।

"सक्रिय तटस्थता और पञ्चशील"

कबीरा खड़ा बजार में, दोनों दल की खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।

—कबीर

भारत की वैदेशिक नीति से भी उसका समाजवादी लक्ष्य अभिव्यक्त होता है। कुछ लोगों के लिये यह आश्चर्य की बात हो सकती है कि भारत तथा अन्य समाजवादी देशों के बीच स्वाभाविक स्नेह क्यों बढ़ता जा रहा है ? विभिन्न क्रिया-दर्शनों के रहते हुये भी ये राष्ट्र क्यों एक दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। कुछ विवेकहीन विचारक इस तटस्थ विदेशी नीति को भी नेहरू के दोहरे व्यक्तित्व से सम्बन्धित करते थे। उनका तर्क यह था कि भारत में समाजवाद को रोकने के लिये ही नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने को प्रगतिशील बनाने की कोशिश करते हैं, इनके विषय में तुलसी दास की यह उक्ति "जाके हृदय भावना जैसी, तिन देखी हरि मूरत तैसी" अक्षरशः सत्य है। दोहरी आँखों को सभी कुछ दोहरा दीखता है, और इसकी दवा भी बहुत कठिन है। बिना किसी तात्त्विक एकता के रूस तथा भारत की नीतियों में परस्पर विनियम न होता ; बिना किसी परम्परागत सत्य के भारत और चीन एक दूसरे के इतने पास खींचकर न आ जाते और बिना किसी दार्शनिक साम्य के इन साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों में प्रगतिशील एकता न कायम हो जाती। "भारत चीन मैत्री" तथा 'रूसी हिन्दी भाई-भाई' इतिहास की आकस्मिक घटनायें नहीं हैं, उनका कुछ अभि-

प्राय हैं और उन्हें साकार रूप देनेवाली कुछ प्रेरणायें हैं, जिनकी जड़ें समाजवादी दर्शन में धँसी हैं।

सक्रिय तटस्थता की बुनियाद

स्वतंत्र होने के दूसरे क्षण ही आजाद भारत के प्रधान मन्त्री तथा परराष्ट्र मन्त्री श्री नेहरू ने तटस्थता की नीति की घोषणा की; उनकी इस वैदेशिक नीति का पहले बहुत गलत अर्थ लगाया गया। कुछ लोगों ने सोचा कि यह नीति, कमजोरी, निर्बलता तथा नपुंसकता की परिचायिका है। कुछ लोगों ने इसकी तुलना हिमालय की कन्दरा में विलीन संन्यासी की भावनाओं से की और कुछ लोगों ने कहा कि तटस्थता तो वास्तव में श्री नेहरू का दिखावा मात्र है, जिससे जनता उनके व्यक्तित्व के बारे में भ्रम में पड़ी रहे; वस्तुतः वे बृटिश साम्राज्य-वादियों की सेवा कर रहे हैं। कामनवेल्थ में जब भारत को सम्मिलित किया गया, तो इस आलोचना ने और जोर पकड़ा। अपनी कटु आलो-चना में इन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की कि जिस प्रकार सत्य और असत्य के अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग नहीं, उसी प्रकार विश्व की दो शक्तियों के अलावा तटस्थता की स्थिति भी असम्भव है। इन आलोचनाओं की जड़ें आलोचकों के हृदय में कुछ स्थिर मान्यतायें थीं, जिनके प्रभाव में इनके हृदय से भारतीय समाजवाद के प्रति सहानुभूति के भाव निकल गये थे। आज भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी यह नीति घोषित करने के लिये विवश क्यों है कि वह भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को प्रगतिशील मानती है तथा उसका हृदय से सम-र्थन करती है?

इन अविवेकपूर्ण आलोचकों की बुरी दशा है, बेचारे क्षण-क्षण पर चेहरा बदलते-बदलते परेशान हो गये हैं। एक समय था कि समाजवादी क्रान्ति के लिये रणदिवे के नेतृत्व में इन्होंने हिंसा का

आश्रय लिया और फिर 'नई लोकशाही' के लिये करवट बदल दिया। पहले नेहरू इनके लिये पूर्ण प्रतिक्रियावादी थे, धीरे-धीरे वैदेशिक नीति में वे प्रगतिशील हुये और आज उनकी प्रगतिशीलता घर-बाहर चारों ओर धँसती जा रही है। अरे भाई, नेहरू जी जो थे, वहीं हैं, उनकी सचाई को तुम्हारे विश्वास के ढोंग छिपा नहीं सकते थे, उनका व्यक्तित्व राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में रवे की तरह बनता जा रहा है। अपनी समझ की कमजोरी के कारण तुम कभी बायें तो कभी दाहिने ओर करवट बदल देते हो। बुद्धि का यह दिवालियापन है कि भारतीय समस्याओं के हल के लिये कभी तुम्हारी आँखें रूस की ओर तो कभी चीन की ओर लग जाती हैं। भारत की अपनी समस्यायें हैं और इसीलिये उनका अपना ही हल भी होना चाहिये; बाहर जाना, बाहर से सहायता की आशा रखना, बाहर से मन्त्र खोजना बहुत बड़ी कायरता है। नेहरू के समाजवादी नेतृत्व में भारत विश्व-समाजवाद का एक मञ्जिल तय करने जा रहा है, यदि कुछ भी सचाई तथा जनता के प्रति वफादारी बाकी हैं, तो समाजवाद के इस शान्तिमय अभियान में योग दो।

तटस्थता की सक्रियता

परराष्ट्र के बारे में नेहरू-नीति तटस्थ होते हुये भी सक्रिय है। सत्यासत्य के मूल्यांकन के लिये भारत के कुछ मानदण्ड है, उन्हीं की रोशनी में भारत विश्व की घटनाओं पर अपने आदर्श बनाता है और अन्त तक उन आदर्शों के लिये संघर्ष करता है। 'चहार दीवारी पर बैठने तथा ताकते रहने' की उसकी नीति नहीं है; उसमें सत्य का पक्ष लेने की शक्ति है तथा असत्य से लड़ने की भी। लेकिन उसके मार्ग अलग हैं। अपनी परम्परा की बुनियादी नीति 'शान्ति' को वह किसी भी मूल्य पर नहीं छोड़ सकता और क्यों छोड़े? आज भारत ही

नहीं, सम्पूर्ण विश्व में अशोक-चक्र का शान्ति-सन्देश गूँज रहा है और इस गम्भीरनाद के सामने युद्धलोलुपों की जबान थामी पड़ गई है। तटस्थता का अर्थ सन्यास नहीं, तटस्थता के माने झगड़ा देखना तथा मजा लेना नहीं, तटस्थता का अभिप्राय कमजोरी नहीं, तटस्थता तो एक अमोघ नैतिक अस्त्र है, जिसकी कल्याणदायिनी शक्ति में विपक्षियों को भी विश्वास हो जाता है। दुनिया की दृष्टि भारत पर लग जाती है और भारत बड़ी शक्तियों के झगड़ों को चुटकी से खत्म कर देता है। आखिर क्यों? इसीलिये कि भारत तटस्थ भी है और सक्रिय भी।

पञ्चशील का दर्शन

तटस्थता की सक्रियता चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई के भारत आने पर नेहरू-चाऊ-वार्ता से सूत्र के रूप में अभिव्यक्त हो गई। पञ्चशील विश्वशान्ति का ठोस दर्शन है, इसके बारे में श्री नेहरू ही ने नहीं, बल्कि दुनिया के बहुत से राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने अपनी सहमति प्रकट की है। पञ्चशील के पाँच तत्व ये हैं;

(१) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में चाहे वे आर्थिक हों, राजनीतिक हों या सैद्धान्तिक, कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(२) कोई आक्रमण न करेगा।

(३) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में प्रत्येक विश्वास करेगा।

(४) प्रत्येक समानता का सन्मान करेगा एवं पारस्परिक लाभ की चेष्टा करेगा।

(५) प्रत्येक एक दूसरे की सार्वभौमिकता एवं सम्मान के प्रति श्रद्धा रखेगा।

पञ्चशील के ये पाँच तत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये एक व्यवहारिक तथा वैज्ञानिक दर्शन उपस्थित करते हैं। इन नीतियों में तटस्थता भी है और सक्रियता भी। इसको स्वीकार करने का अर्थ

पाकिस्तान का प्रधानमन्त्री होते ही श्री मुहम्मदअली के मुख से उनके ये हार्दिक उद्‌गार फूट पड़े थे कि नेहरू जी तो मेरे बड़े भाई के समान हैं। ऐसा क्यों ? इसलिये कि इन राष्ट्रों तथा भारतीय संघ के बीच वस्तुतः भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक भाईचारा हैं, जिसे राजनीति के कुचक्र ने समय की अवधि में तोड़ दिया है। भ्रातृत्व का यह तथ्य गोपनीय नहीं है, इसलिये बलपूर्वक प्रकट हो जाता है।

इसमें पाकिस्तान को छोड़कर शेष सभी राष्ट्रों से भारत का सम्बन्ध प्रेम और सौहार्द का है। भारत के पञ्चशील सिद्धान्त के अनुकूल इनका आचरण है और हम इसे दुनियाँ के शान्तिक्षेत्र का मूल विन्दु (Nucleus) कह सकते हैं। इन राष्ट्रों में आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक सहयोग की भावना है और यह भावना उनके समान सांस्कृतिक प्रेरणाओं से बँधी है। एक दूसरे के सङ्कट और मुसीबत में ये लोग सच्चे भाई की तरह पारस्परिक सहायता करते हैं। नेपाल की बाढ़ उसके लिये एक भयानक राष्ट्रीय क्षति थी और भारत ने खाद्यान्नों तथा अन्य साधनों से उसकी यथासम्भव सहायता की।

इसमें केवल पाकिस्तान से ही सम्बन्ध कटु है, जिसकी चर्चा श्री नेहरू ने अपने वक्तव्य में किया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारत और पाकिस्तान में भारतीय दृष्टिकोण से कोई शत्रुता है। भारत सदा ही पाकिस्तान से मित्रता का इच्छुक रहा है चाहे पाकिस्तानियों ने ईद की खुशी में मुक्का ताना हो या अमेरिका के शास्त्रास्त्रों से अपने बल प्रयोग का वातावरण पैदा किया हो। भारत की शान्ति-नीति की पाकिस्तान के प्रगतिशील नेताओं ने भी हृदय से सराहना की है। पाकिस्तान और भारतीय संघ के बीच बहुत से झगड़े हैं, जिनका होना स्वाभाविक भी है। जब किसी जीवित शरीर को दो टुकड़ों में विभाजित किया जाता है, तो घाव पूँजने में समय लगता ही है, चाहे कृत्रिम

ढङ्ग से उन्हें काटा जाय या राजनीतिक, अस्पताल में उनका आपरेशन किया जाय। काश्मीर की समस्या को पाकिस्तानी नेता पाक-भारत सम्बन्धों में सबसे बड़ी अड़चन मानते हैं। काश्मीर की जनता के भाग्य का फैसला काश्मीरी जनता करेगी या दिल्ली और कराची में बैठी बाहरी ताकतें—यही समस्या है और यही समस्या का हल है। काश्मीर के मुख्य मन्त्री श्री बख्शी ने कई बार यह घोषणा की है कि हमारी जनता ने भारतीय संघ में रहने का फैसला कर लिया है और दुनियाँ की कोई भी शक्ति जनता के इस फैसले को नहीं बदल सकती। काश्मीर की जनता प्रगतिशील है, वह बीसवीं शताब्दी के मूल्यों में अपने को परखती है। काश्मीरी जनता सातवीं-आठवीं शताब्दी के धर्म-राज्यों की कल्पना नहीं करती। मज़हब में अपार निष्ठा होते हुये भी वह अन्य धर्मों का आदर करना जानती है तथा भारत के धर्म-निरपेक्ष समाज में उसका अटूट विश्वास है। पूर्वी पाकिस्तान में अत्यधिक बहुमत से निर्वाचित हक-मन्त्रीमण्डल को रातोरात जेल में ठूसने पर काश्मीर के मुख्य मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि काश्मीर की आजादी पसन्द तथा लोकशाही चाहनेवाली जनता जनतन्त्र की इतनी निर्दय हत्या का वातावरण कभी नहीं पसन्द करेगी। प्रश्न यहाँ हिन्दू-मुसलमानों का नहीं है, प्रश्न एक ओर राज्य का है और दूसरी ओर जनता का है। पाकिस्तान की स्थापना के इतने सालों बाद भी पाकिस्तानी सरकार हिन्दुओं के मर्यादा पूर्वक जीवन की व्यवस्था अपने राष्ट्रीय वातावरण में न कर सकी, फिर और लोगों को वह सुरक्षा की सान्त्वता देने का साहस कैसे कर सकती है?

जो भी हो, यह दोनों राष्ट्रों के कल्याण के लिये आवश्यक है कि दोनों अपने कृत्रिम झगड़ों को शान्तिमय तरीके से हल करलें; छूरे पर शान धराने से विश्व की कोई भी समस्या न तो अब तक सुलझी है और न भविष्य में ही इस मार्ग से कोई रचनात्मक आशा है। पूँजीवादी

तथा साम्राज्यवादी दर्शन में 'युद्ध और युद्ध का अर्थशास्त्र' अनिवार्य समझा जा सकता है, लेकिन यदि हम लोगों के राष्ट्रों को विश्व के सन्मुख एक आदर्श व्यवस्था कायम करना है, तो पञ्चशील के सिद्धान्तों में हमें अपने राष्ट्रनिष्ठ स्वार्थों को शान्तिमय ढङ्ग से विलीन कर देना होगा ?

गोवा में साम्राज्यवाद

साम्राज्यवादी खोखलेपन का गोवा के प्रश्न से अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता। गोवा भी भारतीय परिवार का एक अभिन्न सदस्य है और मजे की बात यह कि गोवा के परराष्ट्रमन्त्री श्री कुनहा तथा अमेरिकी सचिव डलेसने एक संयुक्त वक्तव्य में गोवा को पुर्त्तगाल का एक प्रान्त बतलाया है जैसे अरबसागर, लालसागर और भूमध्यसागर का इनकी दृष्टि में कोई भौगोलिक अस्तित्व नहीं। अमेरिकी पूँजीवाद सारी दुनियाँ में अपने को 'शान्ति तथा जनतन्त्र' का ठेकेदार समझता है, और अपनी नीतियों की सार्थकता के लिये भौगोलिक मान्यताओं को भी चुनौती देना उसका स्वभाव सा बन गया है। भूगोल का यह नया पाठ उसने देर से पढ़ाना शुरू किया, नहीं तो भारत को इङ्गलैण्ड का प्रान्त बनाकर अँग्रेज भी यहीं डटे रह सकते थे और फ्रान्सीसी बेचारे भी इस नये फारमूला के लाभ से चूक गये। फ्रान्स और इङ्गलैण्ड दुनियाँ की बदली परिस्थितियों को समझते हैं, वे पुरानी दुनियाँ के कूप-मंडूक नहीं है, जो अपनी कूप-मंडूकता की रक्षा के लिये एक नया भूगोल गढ़ लेते। नेहरू जी ने स्पष्ट कहा है कि गोवा भारत का भाग है और गोवा की जनता को दुनियाँ की कोई शक्ति भारतीय परिवार से अलग नहीं कर सकती, फिर भी शान्ति के तरीकों में भारत का कितना विश्वास है ? गोवा की समस्या का हल कुछ घन्टों में हो सकता है और यह बात कुनहा साहब जानते हैं; इसीलिये अमेरिका में उनके

मुख से रो-रोकर ये शब्द निकल पड़े, "भारत से अपमानित होने की अपेक्षा हम सम्मानसहित मर जाना पसन्द करेंगे।" जब दुनियाँ के सबसे बड़े, विशाल और शक्तिशाली बृटिश साम्राज्यवाद को मरने के लिये विवश होना पड़ा तो गोवा में साम्राज्यवादी बूढ़ा बच्चा कबतक टिक सकता है।

इतना होते हुये भी भारत ने शान्ति की मर्यादाओं का उलङ्घन नहीं किया। क्या नेहरू जी नहीं जानते कि साम्राज्यवादी नैतिकता के दिन लद गये; फिर भी वे यह क्यों कहते हैं कि हम गोवा की समस्या को शान्तिमय तरीकों से हल करेंगे। उन्हीं के शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर देखिये; "गोवा के प्रश्न में हमारी सहन शक्ति तथा हमारे शान्तिमय इरादों का अच्छा उदाहरण है।" वस्तुतः गोवा-समस्या भारत की शान्तिनीति तथा शान्तिमय समझौते में भारतीय विश्वास का जीवित रूप है और इसका हल विश्व-राजनीति में शान्तिमय इरादों की विजय का अगला अध्याय होगा।

अफ्रीकी-एशियाई क्षेत्र

पिछली शताब्दियों में अफ्रीका तथा एशिया का इतिहास गुलामी, गरीबी और अभाव की भाषा में लिखा जायगा, लेकिन यह युग एशिया और अफ्रीका के लिये पुनर्जागरण का है। एशिया के पूर्व में कोरिया से लेकर पश्चिम में टर्की तक सभी देश या तो आजाद हो गये हैं या अपनी आजादी के संघर्ष को तीव्रता से सञ्चालित कर रहे हैं। उपनिवेश की स्थिति ऐशिया के राष्ट्रों से समाप्त प्राय है। अफ्रीका के राष्ट्रों में भी मुक्ति-आन्दोलन तीव्रता से गतिशील है और आज नहीं तो कल साम्राज्यवादियों को वहाँ से भागना ही पड़ेगा। अभी कुछ ही समय पहले सूडान को स्वतन्त्रता मिली है, जिसका भारत ने भव्य स्वागत किया है। इस प्रसङ्ग में हम गांधी जी का नाम भुला नहीं सकते,

क्योंकि उनके राजनीतिक व्यक्तित्व को अफ्रीका तथा एशिया दोनों महाद्वीपों की साम्राज्यवादी भट्टियों में पकना पड़ा है। अफ्रीका के घोर दमन ने जो आग गांधी जी के हृदय में सुलगायी थी, वह एशिया के भारतीय प्राङ्गण में ज्वाला की तरह धधकने लगी। गांधी जी के अपने कर्मठ व्यक्तित्व में अफ्रीकी तथा एशियाई दोनो जनता की आह का बल था और इसीलिये नवभारत के शान्ति दूत श्री नेहरू यह अच्छी तरह समझते हैं कि सवाल केवल भारत की उन्नति का ही नहीं है, बल्कि पूरे एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप के सहजीवी और सन्तुलित विकास का है, क्योंकि भारतीय समाजवाद के प्रवर्त्तक गांधी के व्यक्तित्व का यही सन्देश है। यही कारण है कि आजादी के कुछ समय बाद ही नेहरू जी ने नवभारत की राजधानी दिल्ली में इन राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया था, जिसमें समान समस्याओं पर विचार किया गया तथा संघर्ष-रत भाइयों की प्रति सक्रिय सहानुभूति प्रकट की गई।

वान्डुङ्ग-सम्मेलन

एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों ने पुनः अभी हिन्देशिया में समान समस्याओं पर विचार करने के लिये सम्मेलन किया था। इस सम्मेलन का विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह सम्मेलन १८ अप्रैल १९५५ में हिन्दएशिया के वान्डुङ्ग नामक नगर में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का प्रस्ताव कोलम्बो-शक्तियों (लंका, पाकिस्तान, वर्मा, भारत और हिन्दएशिया) ने अप्रैल १९५४ में रखा था। इसमें इन दोनों महाद्वीपों के २९ राष्ट्रों ने सहयोग दिया। मध्य-अफ्रीका को निमन्त्रित किया गया था, पर उसे सम्मिलित होना स्वीकार न हुआ। इसराइल तथा दक्षिण अफ्रीका निमन्त्रित नहीं किये गये थे। इस सम्मेलन की व्यापकता को हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं, यदि इस बात पर गौर करें कि इसमें दुनियाँ की आधी जनता का

प्रतिनिधित्व प्राप्त था। अफ्रीका और एशिया के इतने राष्ट्रों ने विश्व-इतिहास में पहली बार एक साथ बैठकर प्रेम, सौहार्द तथा समानता के वातावरण में विचार विनिमय किया और इस सम्मेलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें जनचीन को भी निमन्त्रित किया गया था। इस सम्मेलन का सार्वभौमिक दृष्टिकोण था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुये श्री सुकर्ण ने जोरदार शब्दों में कहा था कि विश्व-शान्ति की स्थापना एटम और हाइड्रोजनबम के आविष्कार से नहीं, प्रत्युत् एक दूसरे के हृदय, मस्तिष्क और संस्कृति के अध्ययन और आदर से ही सम्भव है।

सम्मेलन के कार्य

सम्मेलन ने बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया, पहले विचार-विनिमय के लिये सात विषय सोचे गये थे, लेकिन बाद में पाँच विषयों पर ही गौर किया गया। इन विषयों का महत्त्व हम उनकी सूची से कर सकते हैं;

(१) आर्थिक सहयोग
(२) सांस्कृतिक सहयोग
(३) मानवीय अधिकार, आत्म-निर्णय तथा आत्म-निर्भरता
(४) निर्भर राष्ट्रों की समस्यायें
(५) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विश्व-शान्ति

यद्यपि इसमें विरोधी विचारों को उपस्थित करनेवाले प्रतिनिधि थे, फिर भी सम्मेलन की कार्यवाही शान्तिपूर्वक चलती रही। पश्चिमी राष्ट्रों के समर्थकों का नेता पाकिस्तान था तथा ईरान, इराक और टर्की उसका सहयोग कर रहे थे। नेहरू जी ने भारत की वैदेशिक नीति का उल्लेख किया तथा अपने इस दृढ़ निश्चय की उन्होंने घोषणा की कि भारत किसी भी अन्य शक्ति को अपनी धरती पर सैनिक सहायता

के चोंगें में जमने नहीं देगा। चीनी प्रधानमन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई ने भी इस सम्मेलन में बड़ी कुशल नीति का परिचय दिया। सम्मेलन में पाँचों विषयों पर सहयोगपूर्ण वातावरण में वार्त्ता हुई, केवल परतन्त्र देशों की व्याख्या में रूसी-साम्राज्यवाद से त्रस्त देशों की चर्चा की गई। कुछ विचार-विमर्ष के बाद इन दो महाद्वीपों के २६ राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता के धागे में बँध गये और अफ्रीकी-एशियाई एकता की शक्ति के बारे में हमारी कल्पना साकार हो उठी।

कामनवेल्थ के देश

भारत में अँग्रेजों के काफी समय रहने के कारण अँग्रेजों तथा भारतीयों के आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की गुत्थियाँ काफी उलझ-सी गई हैं। सन् १६४७ में अँग्रेजों ने भारतीय साम्राज्य को जिस वैधानिक ढंग से छोड़ा है, वह इतिहास के लिये एक बेजोड़ आदर्श है। गांधी जी के द्वारा नैतिक शक्ति का प्रयोग हमारे लिये एक नई सैद्धान्तिक देन है। अँग्रेजों ने भारत में जो अत्याचार किये हैं, उनकी ओर से हम आँखें नहीं मूँद सकते, लेकिन मार्क्स ने स्वयं 'भारत के बारे में लेख' लिखते समय अपना यह विचार प्रकट किया है कि अँग्रेजों ने भारत में एक सामाजिक क्रान्ति की है और इसीलिये अँग्रेजी साम्राज्यवाद को उन्होंने भारतीय उपनिवेश में 'इतिहास के हाथ में एक अचेतन अस्त्र' बतलाया है। श्री नेहरू ने कामनवेल्थ में रहना स्वीकार किया, तो भारत के तथा-कथित वाम-आलोचकों ने उनकी इस नीति की तीव्र निन्दा की। जब भारतीय जनता का स्वातन्त्र्य-संग्राम अपने आखिरी मंजिल पर पहुँच रहा था, जब औपनिवेशिक क्रान्ति के द्वारा भारत ने 'भारत छोड़ो' का निर्णायक नारा अँग्रेजों के सामने रखा, और जब इतिहास की भट्टी में भारत के भविष्य का फैसला तपाया जा रहा था, तब तो इन

वामपक्षी आलोचकों ने अँग्रेज़ों की राजनीतिक, सैद्धान्तिक तथा कूट-नीतिक क्षेत्रों में अनवरत सेवा की; और आज जब संघर्ष पर भारत ने विजय प्राप्त करके 'नये भारत' का निर्माण किया है, तब ये आलोचक उसे दुनियाँ की राजनीति से अलग बैठने की सलाह देते हैं। क्या उन्हें यह पता नहीं है कि सोवियत राज्य की स्थापना के दूसरे दिन ही लेनिन ने दुनियाँ के सभी राष्ट्रों से शान्तिमय सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की थी तथा यथासम्भव उन्होंने सभी से सन्धियाँ भी की। अगर ऐसा वे न करते तो ट्राटस्की की 'विश्व-क्रान्ति' की व्याख्या की तरह रूसी सोवियत राज्य भी आज तुतुनखामैन के कब्र में होता। सह-अस्तित्व का अर्थ क्या है? और फिर क्या एक जगह बैठकर विचार करने का अर्थ किसी की गुलामी स्वीकार करना है, इस परिभाषा के अनुकूल तो संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अमेरिकी कार्यालय में बैठने वाले सभी राष्ट्र अमेरिका के गुलाम हो जाँयेंगे। भारत कामनवेल्थ का सदस्य अवश्य है, लेकिन उसकी स्वाधीनता में माओ या बुलगानिन को—किसी सही दिमागवाले व्यक्ति को सन्देह नहीं होता। सन्देह जिनके लिये स्वभाव बन गया हो, उनकी दवा ही क्या हो सकती है? 'चीनी जनतन्त्र' को मान्यता देने के सवाल पर नेहरू-नीति ने कामनवेल्थ के सदस्यों को, कोलम्बो-सम्मेलन और बान्डुङ्ग-सम्मेलन में आनेवाले प्रतिनिधियों को काफी प्रभावित किया है।

कोलम्बो-योजना

इन राष्ट्रों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग के लिये एक योजना बनाने का निश्चय किया। यह निश्चय सबसे पहले जून १९५० में लंका की राजधानी-कोलम्बो में होनेवाले कामनवेल्थ देशों के द्वारा प्रस्तावित 'संसार का जीवन-मान उठाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग'वाले विचार का फल है। कामनवेल्थ के मन्त्रियों के द्वारा किया गया यह

निश्चय १९५० के सितम्बर महीने में 'सलाहकार समिति' की सभा में ठोस रूप से अपनाया गया तथा इस योजना को १ जुलाई १९५१ से प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। इसके प्रारम्भिक सदस्य भारत, मलाया, लंका, बोर्नियो और पाकिस्तान थे, लेकिन १९५४ के अन्त में आस्ट्रेलिया, कनाडा, कम्बोडिया, हिन्देशिया, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन बर्मा, लेओस, नेपाल, अमेरिका तथा वियतनामा ने भी इसकी सदस्यता प्राप्त की; इस प्रकार कामनवेल्थ के मन्त्रियों के द्वारा विकल्पित यह प्रेरणा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के लिये आर्थिक सहयोग का महान क्षेत्र उपस्थित करती है। इस योजना में किये जानेवाले व्यय के अनुमान की तालिका नीचे हैं;

भारत	१३७९००००००० पौंड
लंका	१०२०००००० ,,
मलाया और बोर्नियो	१०७०००००० ,,
पाकिस्तान	२८०००००००० ,,
कुल योग	१८६८००००००० ,,

सदस्य देशों में अस्ट्रेलिया ने लगभग ५१०००००० पौंड, न्यूजीलैण्ड ने प्रथम तीन वर्षों में १०००००० पौंड प्रति वर्ष तथा ब्रिट्रेन ने पूरे ६ सालों के लिये ३०००००००० पौंड देने का निश्चय किया था। अतः हम देखते हैं कि इस योजना में काफी व्यय का अनुमान है। यान्त्रिक सहायता इन देशों के औद्योगिक विकास के लिये अत्यन्त जरूरी है, इसलिये इस योजना के सदस्य राष्ट्रों ने मिलकर ८० लाख पौंड के चन्दे से एक 'यांत्रिक सहयोग समिति' का भी निर्माण किया।

कोलम्बो-योजना का कार्य-क्षेत्र

योजना में अनुमानित व्यय का ३४ प्रतिशत आयात-निर्यात और

आवागमन, ३२ प्रतिशत कृषि, १८% गृह-निर्माण, स्वास्थ्य और शिक्षा, १० प्रतिशत उद्योग तथा ६ प्रतिशत कोयला और लोहा में लगाने का निश्चय किया गया है। इस योजना में यांत्रिक और आर्थिक सहयोग के कारण इन देशों की काफी उन्नति हुई है। साथ ही विशेषज्ञों का आदान-प्रदान तथा छात्रों के अध्ययन की सुविधायें भी प्रदान की गई हैं। इस योजना के अन्तर्गत सभी सदस्य राष्ट्रों ने एक महत्वपूर्ण योग दिया है।

भारत और कोलम्बो योजना

आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत का इस योजना में सर्वाधिक सहयोग है, केवल भारत ही अकेले इस योजना में जो योग देगा, उसका विवरण नीचे दिया गया है।

विषय	व्यय
कृषि	४५६००००००००
अयात-निर्यात और आवागमन	५२७०००००००
कोयला-लोहा	४३०००००००
उद्योग और खान	१३५०००००००
सामाजिक कार्य	२१८०००००००

भारत दुनिया के इस क्षेत्र का सबसे प्रगतिशील देश है। वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा की दृष्टि से भी यह अन्य देशों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर चुका है, इसलिये शिक्षा के क्षेत्र में भी भारत का सहयोग अमूल्य है। भारत में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या १३७ है, जिनमें बर्मा के ७, सिलोन के ६७, हिन्दएशिया के ५, मलाया के ४, नेपाल के ५, पाकिस्तान के २३, फिलिपिन्स के १८ और थाइलैंड के ८ विद्यार्थी है। ये विद्यार्थी भारत में चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी भारत ने शिक्षा की

व्यवस्था की है तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा के लिये विदेशी विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी है। व्यवहारिक विज्ञान की शिक्षा के लिये विदेशी छात्रों को हिराकुण्ड तथा भाकरा-बङ्गल योजनाओं में सुविधा दी गई है। भारत को भी इस योजना से बहुत लाभ हुये हैं। पञ्चवर्षीय योजनाओं के लिये बहुत से विदेशी विशेषज्ञों के विचारों से तथा भारतीय छात्रों के ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया और अमेरिका में शिक्षा-व्यवस्था से भारत को काफी लाभ पहुँचा है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में शान्तिमय योग देने तथा लेने की जो हमारी क्षमता है, वह कोलम्बो योजना के कार्यों में स्पष्ट है।

दुनियाँ के अन्य राष्ट्र

इसके बाद हम भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को दुनियाँ के अन्य देशों के साथ जाँच कर भी इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि भारत की परराष्ट्रनीति सह-अस्तित्व के पञ्चशील सिद्धान्तों पर आधारित है। अमेरिका, रूस फ्रांस, युरोप के सभी राष्ट्रों से, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अमेरिकी महाद्वीप के अन्य राष्ट्रों से—सभी से भारत ने शान्तिमय सम्बन्ध स्थापित किया है तथा आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग के क्षेत्रों में उसने सक्रिय नीति अपनायी हैं। नेहरू जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है कि भारत से किसी की शत्रुता नहीं है। अमेरिका भारत को राष्ट्रीय विकास में सहयोग देता रहा है, लेकिन उसकी नीति एक राजनीतिक दृष्टिकोण से नियन्त्रित होती है; अमेरिकी साम्राज्यवादी अपने वकील डलेस के तर्कों के द्वारा अपनी मंशा को सदा साफ करते रहते हैं। दुनियाँ के पिछड़े देशों को सहायता करने का यह अर्थ नहीं हो सकता कि उनकी स्वतंत्रता या स्वतन्त्र सत्ता को सैनिक जञ्जीरों से बाँधा जाय; जनतन्त्र में अमेरिकी विश्वास का यह अभिप्राय नहीं हो सकता, कि दुनियाँ के अन्य राष्ट्र उसकी हाँ में केवल हाँ

मिलाया करें। नये चीन की राजनीतिक स्थिति को भला कौन अस्वीकार कर सकता है; लेकिन अमेरिका खुद तो इस तथ्य को स्वीकार न करने के मिथ्याग्रह पर टिका ही है, साथ ही अपने द्वारा सहायता प्राप्त राष्ट्रों से भी वह ऐसी ही आशा रखता है। भारत अमेरिकी जनता की शान्ति-भावनाओं का सम्मान करता है; और अमेरिकी जनता को भारतीय जनतन्त्र के प्रति विश्वास तथा श्रद्धा है, लेकिन अमेरिका के पूँजीशाह और उसके विवेकहीन चेले भारत की तटस्थ शान्ति-नीति को खतरे की घंटी समझते हैं, दुनियाँ का इतिहास उनके इस गलत मिथ्यांकनों के लिये उन्हें क्षमा न कर सकेगा।

नवोदित राष्ट्रों को मान्यता

भारतीय नीति राष्ट्रीय समानता का हार्दिक समर्थन करती है। उपनिवेशवाद की निर्दय अव्यवहारिकता का इसे जीवित अनुभव प्राप्त है, और इसलिये जहाँ कहीं उपनिवेशों की जनता मुक्ति-आन्दोलन में संघर्ष कर रही है, भारत की सक्रिय नैतिक सहानुभूति उसे प्राप्त है। बान्डुङ्ग-सम्मेलन के अवसर पर हिन्देशिया के नेताओं ने अपने स्वातन्त्र्य-संघर्ष में भारत के द्वारा किये गये सहयोग के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। अफ्रीकी जनता के संघर्ष में भारत सदा ही हिस्सा लेता रहा है, नेपाल के 'राणाशाही के अन्त' में भारतीय सहानुभूति तथा सहयोग का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता। बाहरी मङ्गोलिया से भारत ने अपना दौत्य सम्बन्ध स्थापित किया है। सूडान के स्वाधीन होते ही भारत ने उसे मान्यता दी तथा उसके नये रूप का अभिनन्दन किया। भारत नये राष्ट्रों के अधिकारों के लिये सदा ही निरन्तर संघर्ष करता रहता है, 'चीन की मान्यता' के लिये उसका भगीरथ प्रयत्न दुनियाँ के लिये कुछ गुप्त बात नहीं है, वास्तव में, भारत की शान्तिमय, तटस्थ और प्रगतिशील नीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सार्वभौमिक सन्देश का

प्रतीक है और इसीलिये राष्ट्रीय शोषण के सभी रूपों से उसे घृणा है और उनके अन्त से उसे स्वाभाविक प्रसन्नता होती है।

समाजवादी भाईचारा

भारत में इस प्रकार शान्तिमय तरीके से समाजवादी व्यवस्था की प्रगति दुनियाँ के अन्य समाजवादी राष्ट्रों के लिये सन्तोष तथा प्रसन्नता का विषय है। कम्यूनिस्ट चीन की अध्यक्षा तथा चीनी राष्ट्र-पिता सन-यात-सेन की पत्नी श्रीमती सूङ्ग चिङ्ग-लिङ्ग ने अपनी भारत-यात्रा के अन्त में कहा है।

"भारत से विदाई लेते समय मैं गदगद हो रही हूँ।....यद्यपि मैंने भारत में केवल १७ दिन तक भ्रमण किया, फिर भी मेरे साथ यहाँ से ऐसी बहुत सी खुशियाँ जा रही हैं, जिन्हें मेरा हृदय कभी भी नहीं भुला सकेगा।....मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि चीनी जनता की तरह, भारतीय जनता भी शान्तिमय जीवन पसन्द करती है आजादी के बाद भारतीय जनता ने अपने देश के विकास में जो महान सफलता तथा उन्नति प्राप्त की है, उसे देखकर मैं बहुत प्रभावित हुई हूँ।.... भारत और चीन के बीच मित्रता बढ़ती जा रही है और यह अनुभव किया जाने लगा है कि इन दो महान राष्ट्रों की मित्रता से दुनियाँ की समस्याओं के हल में काफी सहायता मिलेगी।"

बुलगानिन, टीटो, क्रुश्चैव और करीब-करीब दुनियाँ की सभी समाजवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इसी प्रकार समाजवाद के भारतीय प्रयोग की सफलताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शान्तिमय साधनों के द्वारा समाजवाद की स्थापना का यह प्रयोग समाजवाद में आस्था रखनेवाली विश्व की सारी जनता को चुनौती है और इसके प्रति आस्था की कसौटी, केवल इसके लिये नैतिक सहानुभूति ही नहीं होगी, प्रत्युत इसको कार्यान्वित करने के

लिये सक्रिय सहयोग होगा और क्रियाशीलता की उत्कट विकलता होगी। समाजवादी शक्तियों तथा समाजवादी व्यक्तियों के लिये यह एक महान जिम्मेदारी का सवाल है, क्योंकि यदि भारत में शान्तिमय समाजवाद का प्रयोग सफल होता है, तो हिंसा का एक मात्र अभियोग भी समाजवादी दर्शन से सदा के लिये समाप्त हो जायगा।



विश्व-शान्ति में योग

"भारत और रूस की विदेश-नीति बहुत समान है और दोनों राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी करने, शान्ति की रक्षा करने, युद्ध रोकने, मानव समाज को युद्ध की विभीषिका से बचाने तथा संसार की जनता के लिये कार्य कर रहे हैं?"

—बुलगानिन

"भारत रूस से किसी भी प्रकार पीछे नहीं। अपनी जनसंख्या तथा मानवता को शान्ति के महान देन के कारण भारत को बड़े राष्ट्रों की प्रथम पंक्ति में होना चाहिये।"

—क्रुश्चैव

मानवता का शरीर दो विश्व-महायुद्धों से ध्वस्त हो गया था तथा तीसरे विश्व-महायुद्ध में उसकी अन्तिम कपाल-क्रिया की भयावनी सम्भावना थी। पहली लड़ाई के बीस साल ही बीत सके थे कि दूसरी लड़ाई की विभीषिका ने मानवता को ग्रस्त कर लिया। दूसरे विश्व-महायुद्ध ने समस्त मानव-जाति को निगलने की कोशिश न की थी किन्तु दुनियाँ की विध्वंसात्मक शक्तियाँ अब अपने चरम सीमा पर पहुँच चुकी हैं और तीसरे युद्ध के अन्त में शायद ही कोई मनुष्य बचे, जो सार्वभौमिक नर-हत्या का इतिहास लिख सके। तीसरी लड़ाई दुनिया के सभी इन्सानों का कब्र बन सकती है, इसलिये विश्व-शान्ति की अत्यधिक आवश्यकता थी। सन् १९४७ में भारत की आजादी के बाद नव-भारत का निर्माण हुआ, तथा श्री नेहरू तभी से दुनियाँ

में शान्ति को स्थायी बनाने के लिये भगीरथ प्रयास कर रहे हैं। आजादी से लेकर आजतक के भारतीय वैदेशिक नीति का यदि अध्ययन किया जाय तो शान्ति के लिये भारत के द्वारा किये गये प्रयासों की एक श्रृंखला-सी दीखती है।

साम्राज्यवाद का विकास

वस्तुतः कोई राष्ट्र किसी भी प्रकार का ढाँचा क्यों न रखता हो, उसकी जनता युद्ध के लिये कभी भी तैयार नहीं होती। मानव एक शान्ति प्रेमी प्राणी है। उसका हृदय युद्ध की कल्पना भी नहीं कर सकता और इसलिये युद्ध मानव-समाज पर शोषण की व्यवस्थाओं के द्वारा लादे जाते हैं, ये कृत्रिम होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के रूप को लाभ की मनोवृत्तियाँ नियन्त्रित करती हैं। अत्यधिक पैदावार को खपाने के लिये बाजारों की आवश्यकता होती है। बाजार पाने के लिये पूँजीपति अपने राष्ट्र की जनता को मिथ्या राष्ट्रीय अहंकारों का प्रलोभन देते हैं तथा बलपूर्वक युद्ध की योजना बनाकर दुनियाँ के दूसरे राष्ट्रों पर अधिकार कर उन्हें राजनीतिक दृष्टिकोण से उपनिवेश तथा आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार बना लेते हैं। दुनियाँ के आर्थिक विकास के अध्ययन से यह ज्ञान होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का उदय तथा उत्थान कई राष्ट्रों में साथ-साथ होता है और इन सभी राष्ट्रों के समकालीन पूँजीवादी विकास से विश्व में उपनिवेशों के बनाने की होड़-सी लग जाती है। इतिहास के इस युग में भारत, अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों की खोज की गई तथा उनमें इन पूँजीवादी ताकतों के युद्ध के द्वारा भिन्न भिन्न प्रदेशों का बँटवारा किया गया। इस युग को हम 'उपनिवेशों के लिये युद्ध का युग' कह सकते हैं। फ्रांस, जर्मनी, इङ्गलैण्ड, स्पेन, इटली, हालैण्ड तथा पुर्त्तगाल के नाम इन शक्तियों में उल्लेखनीय है।

बाजारों के लिये युद्ध

इसके बाद कुछ नई शक्तियों का उदय होता है, जिनका आर्थिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक रूप यूरोपीय साम्राज्यवाद से भिन्न होता है; तथा इससे भी बढ़कर दूसरा एक ऐसा रोग पूँजीवादी शक्तियों के बीच पैदा होता है, जो उन्हें युद्ध के लिये प्रेरित करता है। बाजारों के बँटवारा में कुछ राष्ट्र पिछड़ गये थे और वे अपनी इस ऐतिहासिक कमी को बल-प्रयोग से ठीक करना चाहते थे। जर्मनी की स्थिति इन राष्ट्रों में आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक असन्तोषजनक थी। नये प्रकार के साम्राज्यवादी देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका का विकास मानव-इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस युग में एशिया का एक राष्ट्र भी अपने अर्थतन्त्र को साम्राज्यवादी ढाँचे में विकसित करता है और वह राष्ट्र जापान का है। जर्मनी, जापान तथा इटली ऐसे राष्ट्र थे, जिन्हें तत्कालीन औपनिवेशिक बँटवारे से संतोष न था। ये लोग दुनिया में अधिक स्थान चाहते थे। प्रथम तथा द्वितीय विश्व महायुद्धों की बुनियाद में यही कारण था। साम्राज्यवाद, जो पूँजीवाद की चरमावस्था है, अपने भीतर ही भीषण द्वन्द रखता है, और इस द्वन्द की ज्वाला जब भड़कती है तो युद्ध स्वाभाविक हो जाते हैं।

उपनिवेशों के मुक्ति-आन्दोलन की विशेषतायें

इन युद्धों में साम्राज्यवादियों की शक्ति कुछ क्षीण होती है तथा उपनिवेश की जनता का संघर्ष तीव्र होता है। उपनिवेश साम्राज्यवादी शोषण को सहन करने के लिये तैयार नहीं होते। उन्हें पूँजीवादी राष्ट्रीयता की प्रतिक्रिया में अपनी राष्ट्रीयता का ध्यान आता है। उनके राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध तथा दमन पूजीवाद यथाशक्ति करता है, लेकिन फिर भी औपनिवेशिक जनता अपनी क्रान्ति में बहुत से स्थानों पर सफल होती है तथा दुनिया में नये स्वतन्त्र राष्ट्रों का जन्म होता है।

रूस, चीन, टर्की, भारत, बर्मा, हिन्देशिया जैसे बहुत से राष्ट्र अपने को साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शिकंजे से अलग कर लेते हैं तथा धीरे-धीरे इनकी स्वाधीनता इतिहास को मान्य हो जाती है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि मुक्ति-आन्दोलन की समाप्ति के बाद उपनिवेशों में जनता की एक नई ताकत पैदा होती है और गुलामी के समय जो शक्तियाँ साम्राज्यवादियों की सेवा तथा दलाली पर जीवित रहती हैं, उनके लिये नये समाज में रहना भयास्पद सा दीखता है। साम्राज्यवादियों की नौकरशाही में कुछ उपनिवेश के स्वार्थी लोग शोषण में सहायक हो जाते हैं तथा इनका स्वार्थ पूँजीवादी-साम्राज्यवाद के टिके रहने ही में होता है। इसी कारण से वे औपनिवेशिक क्रान्ति का विरोध करते हैं, तथा स्वाधीन राष्ट्र के रूप में जब उस विशेष उपनिवेश का उदय होता है, तब ये अपने देश से बाहर भागकर नये उपनिवेश के विरुद्ध षड्यन्त्र करते हैं। च्याङ्ग-काई-शेक इसी प्रकार के व्यक्ति हैं। नये चीन में नये समाज की स्थापना हो जाने के बाद वे फारमोसा में बैठकर चीनी जनतन्त्र को निगलने की पागल योजनायें बनाया करते हैं।

औपनिवेशिक स्वाधीनता की एक दूसरी समस्या भी है, वह समस्या भारत के सन्मुख पैदा हुई है। साम्राज्यवादी नेता उपनिवेशों में, अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिये 'फूट डालो तथा राज्य करो' की नीति अपनाते हैं और जब वे तीव्र संघर्ष के कारण उपनिवेशों को छोड़-कर भागने लगते हैं, तो अपनी इस पुरानी नीति से लाभ उठाते हैं और उपनिवेश को टुकड़ों में बाँट जाते हैं। भारतीय उपनिवेश को कई टुकड़ों में बाँटना इसी नीति का परिणाम है। यह बँटवारा कृत्रिम होता है, इसलिये उपनिवेशों के बँटे हुये भागों में सदा निजी स्वार्थों के लिये खींचातानी होती रहती है और उनकी इस प्रवृत्ति से लाभ उठाकर साम्राज्यवादी उन्हें बराबर लड़ाया करते हैं।

औपनिवेशिक-युग की तीसरी विशेषता यह होती है कि उपनिवेशों के आजाद होते रहने से साम्राज्यवादियों का बाजार सिकुड़ता जाता है और इसलिये उनके स्वार्थों की खाई बढ़ती जाती है। अमेरिकी साम्राज्यवाद ने इतना विकास कर लिया है, कि दूसरे साम्राज्यवादियों को जीवित रहना भी कठिन हो रहा है। चीन का बहुत बड़ा बाजार हाथ से निकल जाने पर अमेरिकी पूँजीपति ब्रिटेन के पीछे हाथ धोकर पड़ गये हैं तथा बृटिश प्रभाव को उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मध्य पूर्व तथा दक्षिण पूर्व से हटाने की कोशिश की है। ईरान में तेलों के क्षेत्र के लिये राजनीतिक दाँव-पेंच तथा स्वेज नहर के लिये मिश्र में इनकी पैतरेबाजी राजनीति के सभी विद्यार्थियों को ज्ञात है। यह बात नहीं है कि ब्रिटेन इस चाल को नहीं समझता, लेकिन शक्ति के कमी के कारण उसका विरोध एक उग्र रूप धारण नहीं कर पाता। स्टालिन ने पूँजीवाद के इस अन्तर्विरोध के कारण भी संघर्ष की सम्भावना प्रकट की थी।

वर्त्तमान युग का चौथा विरोध द्वितीय विश्व महायुद्ध का विशुद्ध परिणाम है, जिसके अन्त में कोरिया और जर्मनी आदि राष्ट्रों को दो भागों में बाँट दिया गया। वहाँ की जनता एकता के लिये प्रयास करती है, लेकिन दोनों भागों की दो विरोधी व्यवस्थाओं के लिये सम्मिलित हो सकना सिद्धान्ततः सम्भव नहीं। इन देशों का बँटवारा भी भारतीय बँटवारे की ही तरह कृत्रिम है तथा साम्राज्यवादियों की देन है; इसलिए जनता की वास्तविक शक्ति के उदय होने पर साम्राज्यवादियों के द्वारा उत्पन्न ये मान्यतायें टिक नहीं सकेंगी। इस प्रश्न को साम्राज्यवादी अभी भी उलझा देना चाहते हैं तथा उसके सच्चे हल से इन भागों को काफी दूर रखना ही उनका उद्देश्य है। कोरिया की समस्या, जो विश्व युद्ध की भूमिका बनने जा रही थी, इसी विरोध का चिन्ह है।

पाँचवें विरोध को सैद्धान्तिक रूप दिया जाता है और वह है साम्यवाद तथा साम्राज्यवादी-पूँजीवाद का। अमेरिकी पूँजीपति रूस की व्यवस्था को मानवता का कलङ्क समझते हैं। लेकिन श्री नेहरू ने रूसी जनता के बारे में अपना विचार प्रकट करते हुए कहा कि न तो रूस में उन्हें कोई आवरण ही दिखलाई पड़ा और न युद्ध की तैयारी ही। उनकी दृष्टि में भारतीय जनता की तरह चीनी और रूसी जनता भी शान्ति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहती है। वस्तुतः बात यह है कि साम्राज्यवाद की शोषण-नीति को अब दुनियाँ का कोई देश सहने के लिये तैयार नहीं है तथा शान्ति-कालीन पदार्थों के उत्पादन की न तो कोई खपत है और न उससे अधिक लाभ ही होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के जीवित रहने के लिये युद्धकालीन अर्थशास्त्र की अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है, इसीलिये अमेरिका किसी भी मूल्य पर युद्ध की तैयारी और युद्ध चाहता है। उसके सामने केवल एक समस्या है जो उसे युद्ध से रोकती है और वह है सैनिकों की कमी। दुनिया के राष्ट्र युद्ध के लिये तैयार नहीं, ब्रिटेन ने युद्ध में हिस्सा लेने से साफ इनकार कर दिया है। दुनिया की जनता युद्ध नहीं चाहती और इस-लिये युद्ध की अमेरिकी योजना सफल नहीं हो पा रही है।

वर्त्तमान अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों का विश्लेषण

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी शक्तियाँ इन्हीं पाँच विरोधों की बुनियाद से युद्ध की प्रेरणायें ग्रहण करती हैं। अफ्रीकी-उपनिवेशों में रङ्गभेद की नीति भी साम्राज्यवाद का ही दूसरा रूप है। इन विरोधों के आधार पर विश्व की शक्तियाँ अपना विकास कर रही हैं। इन विरोधी शक्तियों के बीच भी नियन्त्रित संतुलन कायम हो रहा है। आज अगर हम इन शक्तियों के अस्तित्व को बिलकुल पाँच स्वतन्त्र जोड़ों में पाने की चेष्टा करेगें तो यह व्यर्थ होगा, क्योंकि इन शक्तियों

ने अपने स्वभाव, दर्शन तथा कार्य-नीति के आधार पर दूसरे जोड़ों की शक्तियों से गठबन्धन कर लिया है। उदाहरण के लिये चीनी जनतन्त्र की स्थापना के बाद उस नये समाज के महान शत्रु च्याङ्ग काई शेक अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ हो गये हैं तथा विभाजित कोरिया का दक्षिणी भाग भी अमेरिकी चालों के लिये मुहरों का काम देता है। इसी तरह दुनियाँ की ये सभी विरोधी शक्तियाँ गुटबन्धन में व्यवस्थित हो गई हैं। उन्होंने अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुओं के साथ सैनिक संधियाँ भी कर ली है। इन शक्तियों के विरोध का परिणाम ही युद्ध हो सकता है।

विश्व की जनता का प्रतिनिधित्व

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्व-शान्ति के लिये पञ्च-शील तथा सक्रिय तटस्थता के सिद्धान्त रखे हैं। भारत का दुनियाँ की जनता की शान्ति-भावना में अगाध विश्वास है। कहीं की भी जनता अपने सरकारों के द्वारा बनाये गये युद्ध की योजनाओं को स्वीकार नहीं करती, किन्तु उसे मनोवैज्ञानिक तथा वैधानिक विवशता के कारण युद्ध में अपने-आप खींचकर आ जाना पड़ता है। दुनियाँ के अरबों लोगों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व भारत ही करता है, इसलिये विश्व की सारी जनता, विचारकों, वैज्ञानिकों तथा निष्पक्ष राजनीतिज्ञों की आँख श्री नेहरू को आशा भरी दृष्टि से देखा करती है। नेहरू जी ने यह स्वीकार किया है कि भारत के पास सैनिक बल नहीं है। लेकिन फिर भी भारत के प्रति दुनियाँ में क्यों सन्मान की भावना है ? अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के हल के लिये भारत को ही क्यों पंच बनाया जाता है ? इसलिये कि भारत की नीति में करोड़ों अरबों जनता की सहानुभूति का बल है। भारत स्वयं शान्तिमय साधनों से अपनी समस्याओं को हल कर रहा है तथा वैसी ही आशा वह अन्य राष्ट्रों से भी करता है।

भारत की शान्ति-नीति की विफलता का अर्थ दुनियाँ के अगणित इंशानों की भावनाओं का पराजय होगा, इसलिये यह हार अकल्पनीय है।

शान्ति-प्रयास की धारायें

भारत के दर्शन में शान्ति के लिये निरन्तर विकलता है। दुनियाँ को युद्ध से बचाने के लिये भारत ने कई दिशाओं में प्रयास किया है और वे सभी दिशायें भारतीय पञ्चशील सिद्धान्तों से प्रेरणा पाती हैं। भारत स्वयं अपने झगड़ों को शान्तिमय साधनों से हल करके दुनियाँ के सामने एक आदर्श उपस्थित करता है तथा अन्य राष्ट्रों के झगड़ों को हल करने के लिये सक्रिय मध्यस्थता करता है। इसके अतिरिक्त श्री नेहरू शान्ति का सन्देश विश्व के कोने-कोने में पहुँचाया करते हैं। शान्तिवादी राष्ट्रों का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, क्योंकि इस क्षेत्र में नये राष्ट्रों का उदय होता जा रहा है।

शान्ति-क्षेत्र का विस्तार

नेहरू जी की शान्ति नीति तथा सक्रिय तटस्थता के दर्शन को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सबसे पहले बर्मा तथा हिन्देशिया में समर्थन मिला। अफगानिस्तान, सऊदी अरब तथा मिश्र आदि राष्ट्रों ने भी पञ्चशील के सिद्धान्तों को हृदय से स्वीकार किया। यूरोपीय राष्ट्रों में युगोस्लाविया के नेता टीटो ने नेहरू जी के सिद्धान्त को ग्रहण किया। वस्तुतः इसमें पञ्चशील को औपचारिक ढंग से कबूल करने का सवाल ही नहीं है। प्रश्न तो यह है कि शान्तिमय विश्व में विश्वास है या प्रलयङ्कारी युद्धों में। रूस, चीन तथा अन्य समाजवादी राज्य, जैसे पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, और चेकोस्लैवैकिया आदि भी 'शान्ति क्षेत्र' का महत्त्व समझते हैं। भारत और चीन की मैत्री वस्तुतः

शान्ति क्षेत्र को एक बड़ी देन है। चीन-भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों पर विचार करते हुये नेहरू जी ने अपनी चीन-यात्रा के समय कहा था कि दुनियाँ के इन दोनों पड़ोसी विशाल देशों के सम्बन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके बीच इतिहास में कभी भी कोई आक्रमण का प्रमाण नहीं मिलता। शान्ति-क्षेत्र तथ्यतः दुनियाँ के सभी देशों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपना प्रसार करता जा रहा है और यह शान्तिवादी लोगों के लिये बड़ी प्रसन्नता का विषय है।

शान्तिमय समझौता

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के हल के लिये भारत शान्तिमय उपायों का सहारा ही युक्ति-संगत समझता है। आज बीसवीं शताब्दी में, जब ब्रिटेन जैसे साम्राज्यवादी देशों ने साम्राज्यवाद की निस्सारता को देखकर भारत जैसे महान देश से चले जाने का निश्चय किया, तब पुर्तगाल का गोवा के लिये हठधर्म एक अजीब तथा हास्यास्पद घटना है। भारत इस समस्या को कुछ क्षणों में हल कर सकता है, लेकिन नेहरू जी ने इस प्रश्न पर पूर्ण शान्तिमय साधनों का रूख अपनाया है। डलेस-कुन्हा वक्तव्य से गोवा का सवाल कितना गम्भीर हो गया है फिर भी नेहरू जी का यह विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से गोवा की समस्या शीघ्र ही सुलझ कर रहेगी। नेहरू जी ने स्वयं ही कहा है कि गोवा के बारे में हमारी नीति एक आदर्श धैर्य तथा शान्ति उपस्थित करती है। भारत ने अपने मामलों में सदा ही शान्ति के तरीके से कार्य किया है। पाकिस्तान सदा ही गैर जिम्मेदारी की बातें तथा हिंसक कार्य कर बैठता है, किन्तु भारत उसकी ओर भी ध्यान नहीं देता। भारत ने सदा ही यह कोशिश की है कि भारत और पाकिस्तान के झगड़े शान्तिमय तरीकों से हल हो जाँय।

कोरिया से युद्ध प्रारम्भ होते ही नेहरू जी ने श्री स्टालिन तथा

अमेरिकी परराष्ट्र सचिव से शान्ति स्थापित करने के लिये अपील की थी। स्टालिन ने नेहरू जी के विचारों से सहमति प्रकट की थी। कोरिया के युद्ध में प्रारम्भ से अन्त तक नेहरू जी ने शान्तिमय साधनों से समझौता कराने की कोशिश की और अन्त में भारत के नेतृत्व ही में कोरिया-युद्ध शान्त हुआ। इसी प्रकार हिन्दचीन में भी नेहरू जी के ही शान्ति प्रयासों से युद्ध की स्थिति समाप्त हुई, जिस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुये नेहरू जी ने स्वयं ही कहा था कि दुनियाँ में यह पहला क्षण है, जब कि द्वितीय विश्व-महायुद्ध के बाद सारे स्थानों पर शान्ति स्थापित हुई है। जिनोवा-सम्मेलन में नेहरू जी के प्रतिनिधि श्री मेनन ने अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने में जो सहयोग दिया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। भारत की नीति समझौते से अन्तर्राष्ट्रीय खींचा-तानी को समाप्त करने की है और इन प्रयत्नों में उसे काफी सफलता भी मिली है। चीन और अमेरिका के बीच तनाव को दूर करने में भारत का विशेष हाथ है। चीन के साथ उसका भाईचारे का सम्बन्ध होने से उसके लिये यह कार्य अत्यन्त सरल भी है। चीन जाकर जिस प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रधान-मन्त्री न निपटा सके, उसे श्री मेनन ने सुलझा दिया। युद्धापराधी वायु सैनिकों को चीन ने श्री मेनन के द्वारा घोषणा किये जाने के साथ ही मुक्त कर दिया, जो भारतीय शान्ति-प्रयत्नों के प्रति चीन की आस्था का द्योतक है।

नये राष्ट्रों की समस्या

भारत की यह कोशिश बहुत पहले से रही है कि सभी नवोदित राज्यों को मान्यता दे दिया जाय। भारत दुनियाँ की परतन्त्र जनता से स्वाभाविक सहानुभूति रखता है, इसीलिये स्वाधीन होते ही वह अन्य राष्ट्रों को मान्यता दे देता है तथा उन्हें संयुक्त-राष्ट्र-संघ में

स्थान दिलवाने के लिये संघर्ष करता है। बाहरी मंगोलिया तथा सूडान को मान्यता देकर उनसे भारत ने कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया है। अभी कुछ समय ही पहिले राष्ट्र-संघ के कई नये सदस्य बनाये गये हैं, जिन्हें सदस्यता श्री नेहरू जी के प्रयत्नों से ही प्राप्त हुई। नेहरू जी के अनुरोध के कारण रूसी नेताओं ने भी इन्हें नये सदस्यों के रूप में स्वीकार किया। भारत का विश्वास जनता की अहिंसक प्रवृत्तियों में है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ में सभी राष्ट्रों का उचित प्रतिनिधित्व हो जाने से शान्ति की सम्भावनायें बढ़ जायेंगी। भारत इसी दृष्टि से नये राष्ट्रों की सदस्यता का जोरदार समर्थन करता है। जापान तथा बाहरी मंगोलिया को भी राष्ट्र-संघ में सम्मिलित करने के लिये भारत ने माँग की है। जो कार्य प्रेम, सौहार्द तथा सम्पर्क से हो सकता है, वह न तो दूर-दूर से सहानुभूति प्रकट करके हो सकता है और न सैद्धान्तिक आकर्षण से। संयुक्त-राष्ट्र-संघ का रूप तभी प्रभावशाली, वास्तविक तथा पूर्ण होगा, जब दुनियाँ में कोई राष्ट्र गुलाम न रहे, साम्राज्यवाद का अन्त हो जाय तथा प्रत्येक राष्ट्र का इस विश्व-संस्था में सही प्रतिनिधित्व हो।

नये चीन को मान्यता

भारत दुनियाँ के उन थोड़े से राष्ट्रों में था, जिन्होंने नये चीन को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में सबसे पहले मान्यता दी। भारत और चीन विश्व के दो महान, प्राचीनतम तथा सांस्कृतिक मित्र हैं। भारत इतिहास के तथ्यों को केवल तत्काल स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उनके लिये संघर्ष भी करता है। भारत यह अच्छी प्रकार जानता है कि विश्व-शान्ति को स्थायी बनाने का कार्य बिना चीन को संयुक्त राष्ट्रसङ्घ में स्थान दिये संभव नहीं है। पचास करोड़ जनता के राष्ट्र का प्रतिनिधि यदि संयुक्त राष्ट्रसङ्घ में न हो, तो उसकी सार्थकता ही क्या रह जाती

है, लेकिन अमेरिका ने जान-बूझ कर इस तथ्य की ओर से आँखें मूँद रखी हैं। इस 'शुतुर मुर्ग नीति' से कुछ काम नहीं हो सकता। यदि हम सूर्योदय के समय या खड़ी दोपहरिया में आँख मूँद कर यह कहें कि सूर्य नहीं निकला है, तो इसमें सूर्य का क्या दोष? या सूर्य के निकलने का तथ्य क्या हमारे आँख मूँद लेने से झूठा हो सकता है। नवचीन को न मानना ऐसी ही बात है।

श्री नेहरू ने कई बार संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना तथा माँग की है कि चीन को संघ तथा सुरक्षा परिषद में उसका उचित स्थान मिले इस पर अमेरिका ने भारत को यह प्रलोभन दिया कि भारत को चीन के स्थान पर सुरक्षा-परिषद का स्थायी सदस्य बना दिया जाय। भारत इस प्रलोभन से डिगने वाला नहीं। पंडित नेहरु ने साफ-साफ कहा है कि वे राजनीति में शतरंज की चालें नहीं चलते, यही उनकी नीति का रहस्य है। भारत को वस्तुतः दुनियाँ के प्रधान राष्ट्रों में स्वाभाविक रूप से स्थान मिलना चाहिये, लेकिन वह स्थान भारत चीन के स्वाभाविक अधिकार के मूल्य पर नहीं ग्रहण कर सकता। रूसी नेताओं ने भारत को दुनियाँ की प्रधान शक्तियों में स्थान पाने की आवश्यकता का अनुभव किया है और वह दिन दूर नहीं जब भारत को उसका यह स्वाभाविक अधिकार देना अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की विवशता हो जायगी। श्री मती विजया लक्ष्मी पंडित को एक बार संयुक्त राष्ट्रसंघ की अध्यक्षा निर्वाचित करके विश्व की जनता ने भारत के प्रति विश्वास तथा सम्मान की जो भावना प्रकट की थी, वह निश्चय ही भविष्य की ओर आशामय संकेत है।

सैनिक गुटों से दूर

नेहरू जी सैनिक गुट-बन्दियों का हृदय से विरोध करते हैं और यही कारण है कि अमेरिका से उनकी दूरी बढ़ती जा रही है। अमेरिका

नाटो, सीटो तथा मीडो आदि कितने रूपों में सैनिक सङ्गठन बनाता जा रहा है, लेकिन नेहरू जी ने इन सैनिक संधियों को युद्ध की भूमिका बतलाई है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सैनिक सङ्गठनों का अर्थ और अभिप्राय युद्ध से अलग कुछ नहीं समझ में आता। ये सैनिक दल बन्दियाँ विश्व-शान्ति को अत्यधिक खतरा उपस्थित करती हैं। बान्डुङ्ग सम्मेलन में नेहरू ने कठोर शब्दों में घोषित किया था कि भारत अपनी धरती पर किसी भी विदेशी सेना को कभी भी घूसने तक न देगा।

परमाणु-शस्त्रों की निन्दा

किसी भी प्रकार से सैनिक शक्ति में वृद्धि करने का अभिप्राय युद्ध की तैयारी है, इसीलिये सैनिकी करण के होड़ तथा पागल दौड़ को समाप्त करना ही श्रेयस्कर है। नेहरू जी ने अनेक बार यह विचार प्रकट किया है कि परमाणु अस्त्रों का उत्पादन बन्द होना चाहिये, उनके प्रयोग की शृङ्खला समाप्त कर देनी चाहिये तथा उनके वर्त्तमान भंडार पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण होना जरूरी है। असैनिकीकरण के प्रश्न पर नेहरू जी तथा रूसी नेताओं के बीच भारत में वार्त्ता हुई थी और दुनियाँ के चार बड़े राष्ट्र रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच इस वार्ता को पुनः शुरू करने के लिये भारत कोशिश कर रहा है। ऐसा अनुमान है कि श्री मेनन तथा श्रीमती विजया लक्ष्मी पण्डित ने इस विषय पर श्री लायड से वार्ता की है। 'Life' पत्रिका में श्री डलेस के उस लेख से भारत निराश नहीं हुआ है जिसमें डलेस ने इस बात पर जोर दिया है कि 'शक्ति की नीति' ही संयुक्तराष्ट्र की कूट-नीति का स्थायी सिद्धान्त होना चाहिये। रूसी नेताओं ने श्री नेहरू को यह वचन दिया है कि वे शस्त्रीकरण की दौड़ समाप्त करने के लिये तैयार हैं यदि पश्चिमी राष्ट्र भी ऐसा ही करें। दुनियाँ में वास्तविक

शान्ति की स्थापना बिना शस्त्रीकरण को रोके सम्भव नहीं, इसलिये इस दिशा में भारत यथाशक्ति और यथासंभव कोशिश कर रहा है।

शान्ति का सन्देश

नेहरू जी स्वयं एक महान शान्तिदूत हैं, वे दुनियाँ के सभी राष्ट्रों में जाकर शान्ति की प्रेरणा तथा दावत दे आते हैं। भारत में भी वे सभी देशों के प्रतिनिधि का आवाहन करते हैं। सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डलों के विनिमय से भी विभिन्न देशों में पारस्परिक सौहार्द बढ़ता है। श्री मेनन स्थायी रूप से नेहरू जी के शान्ति कार्यों के प्रतिनिधि हैं।

एक दूसरे देशों का भ्रमण यदि दुनियाँ के राजनीतिक कर्णधार करते रहें और विश्व की महान जनता के विचारों का जीवित परिचय प्राप्त करते रहें, तो उनके बीच का तनाव अपने आप समाप्त हो जायगा। रूस जाते समय श्री नेहरू ने कहा था;

"मैं रूस अपने देश वासियों की शुभ कामनायें तथा शान्ति के सन्देश लेकर जा रहा हूँ।"

और सचमुच जहाँ कहीं भी यह शान्ति यात्री पहुँचता है, वहाँ के वातावरण में उसका शान्ति-संदेश गूँजने लगता है और आज तो यह गूँज विश्व की जनता की वाणी के रूप में सारे संसार को प्रतिध्वनित कर रही है।



द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना

"योजना की रूपरेखा लोगों की आवश्यकता को देखती हैं। सारे भारत में जरूरतें बहुत हैं। वे तो २० या २५ साल में भी पूरी नहीं हो सकतीं, क्योंकि भारत इस बीच विकसित होता रहेगा, बढ़ता जायगा। लेकिन स्वयं योजना के बारे में तफसील में हमें देखना है कि ५ वर्षों में हम कहाँ तक उस तरफ जा सकते हैं। फिर, साल में हमें जो कुछ करना है, उसका एक-एक नुक्ता सही होना चाहिये।....पहली पञ्चवर्षीय योजना के तजर्बों से हम अपने योजना सम्बन्धी कामों को सुधारते चलेंगे।....हम बेशक, अपने देश में निजी उद्योगों को जगह देना चाहते हैं, लेकिन हमारे सार्वजनिक क्षेत्र का पलड़ा बराबर भारी होता जायगा। हम इस क्षेत्र को वजनी रखेंगे। यह बराबर बढ़ता जायगा। यही समाजवाद का मतलब है।"

—जवाहर लाल नेहरू

योजना की भूमिका

हमने प्रथम पञ्चवर्षीय योजना को प्रायः समाप्त कर लिया है। इस योजना में हमने अपनी शक्तियों को कृषि, तथा बँटवारे से उत्पन्न अन्य समस्याओं को सुलझाने में केन्द्रित किया था। उसकी सबसे तीव्र आलोचना यही हुई थी कि उनमें उद्योगों के विकास पर अधिक जोर नहीं दिया गया था। यह एक बुनियादी बात है कि कोई भी

देश अपने को समाजवादी नहीं कह सकता, यदि वह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र तथा आत्म-निर्भर नहीं है। रूसी क्रान्ति के बाद सोवियत सरकार ने भारी उद्योगों में अपनी सारी ताकतें लगा दी थीं क्योंकि मशीनरी के लिये दूसरे देशों पर लगातार निर्भर रहना न तो गौरवपूर्ण है और न श्रेयष्कर ही। नेहरू जी ने उद्योगों पर जोर देने का कारण बतलाते हुये लिखा है;

"योजना की रूपरेखा में भारी उद्योगों पर खास जोर है। यह एक बुनियादी बात है कि हम इनके विकास पर जोर दें।....मैं कहता हूँ कि बगैर भारी उद्योग के कोई देश आजाद नहीं रह सकता। मैं कहता हूँ कि इसके बिना आजादी की कोई ताकत ही नहीं होती.... कोई देश भारी उद्योग बिना टिक नहीं सकता। इसके बिना कोई देश आजाद होकर चल नहीं सकता।"

वस्तुतः समाजवाद का अर्थ ही अर्थ-शास्त्र की दृष्टिकोण से योजनान्वित अर्थतन्त्र है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर धीरे-धीरे पूरे समाज का अधिकार होता जाय। जिस देश में आर्थिक प्रगति की दिशायें राज्य के द्वारा वैज्ञानिक ढंग से योजनाबद्ध नहीं की जातीं, उसका उत्थान सम्भव नहीं। थोड़े काल के लिये वह औद्योगिक उन्नति की सीमा पर भी पहुँच सकता है, जैसे अमेरिका पूँजीवादी समाज की स्थापना में सफल ही नहीं, बल्कि समाजवादी देशों से भी राष्ट्रीय उत्पादन क्षमता में आगे है। लेकिन इस प्रकार की अवैज्ञानिक, असंघटित तथा योजनारहित प्रगति स्वयं अपने लिये अभिशाप बन जाती है। इसमें उत्पादन मनुष्य की आवश्यकताओं के लिये न होकर पूँजीपतियों के लाभ तथा उच्चवर्ग के विलास के लिये होने लगता है। ऐसी व्यवस्था में वितरण की कोई सन्तुलित व्यवस्था नहीं होती, परिणाम यह होता है कि वितरण के असमान होने के कारण जनता में भी असमानता की नींव पड़ जाती है।

समाजवाद की ओर

भारतवर्ष ने समाजवादी सिद्धान्तों को अपना कार्य-दर्शन बनाया है और इसलिये अपने अर्थतन्त्र को नियन्त्रित रखना उसके लिये आवश्यक हो जाता है। हमारा राष्ट्रीय उत्पादन जनता की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये होगा तथा जो कुछ उत्पन्न किया जाता है, उसका उचित बँटवारा होगा। समाजवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख समाज निजी क्षेत्र से अधिक महत्त्व सार्वजनिक क्षेत्र को देता है। सार्वजनिक क्षेत्रों की उत्पादक-क्षमता सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में होती है, इसलिये उसका सर्वोत्तम उपयोग जन-सेवा में किया जा सकता है। इस पञ्चवर्षीय योजना की यह बुनियादी विशेषता है कि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के पलड़े को धीरे-धीरे अधिक वजनी बनाने की कोशिश की जायगी। निजी क्षेत्र को समाप्त करने का उद्देश्य नहीं है, लेकिन पूर्ण समाजवाद में निजी क्षेत्र को सार्वभौमिक हित में विलीन हो जाना पड़ेगा। आज रूसी समाज में भी निजी सम्पत्ति अभी तक वर्त्तमान है। समाजवादी सरकार कोई भी ऐसी योजना को कार्यान्वित नहीं करती, जिसे जनता का समर्थन न प्राप्त हो। सभी समाजवादी नेताओं ने इस बात पर जोर दिया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के आकर्षण तथा व्यापकता के प्रभाव से ऐसी स्थिति पैदा करनी चाहिये कि निजी क्षेत्र स्वयं इच्छा से उसमें विलीन हो जाय।

बेकारी को दूर करने की समस्या

बेकारी की समस्या साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। उद्योगों के अधिक वैज्ञानिक विकास के कारण थोड़े श्रम से ही अधिक उत्पादन हो जाता है और राष्ट्र के बहुत से लोगों के पास काम न रहने से जीविकोपार्जन के साधन नहीं होते। ये लोग बेकार हो जाते

हैं। इन बेकारों की उपस्थिति समाजवादी दृष्टिकोण रखने वाली किसी सरकार के लिये कलंक है, इसलिये भावी योजना में इन बेकारों की संख्या हमें कम करनी पड़ेगी। औद्योगिक विकास के साथ ही कुटीर तथा ग्राम्य उद्योगों को भी संयोजित करना होगा। साथ ही कृषि की उन्नति करके किसानों की दशा को और भी सुधारना होगा, जिससे उनकी क्रय-शक्ति आगे बढ़े। इन सुधारों का दृष्टिकोण सभी को काम तथा भोजन देना होगा। बेकारी की समस्या को दूर करने के लिये कुटीर-उद्योगों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

समानता की प्रगति

समाजवादी व्यवस्था में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास का समान अवसर प्राप्त हो। आर्थिक असमानता के अनुपात को कम से कम किया जाय। अधिक से अधिक तथा कम से कम आर्थिक क्षमता निर्धारित की जाय। इस विषय पर 'कर जाँच कमेटी' ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया है कि आर्थिक विषमता के अनुपात को १ : ३० कर देना चाहिये। अच्छा तो यह हो कि हम इसे और घटाने की कोशिश करें। समानता की ओर जब व्यवस्थित प्रयास किया जायगा, तो हमें जनता का भी नैतिक तथा क्रियाशील सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

लोककल्याण का दायरा

सार्वजनिक क्षेत्र के बढ़ाने का स्वाभाविक अर्थ यह होता है कि लोक-कल्याण के कार्यों में ठोस कदम उठाये जाँय। सार्वजनिक हित के लिये चिकित्सा-केन्द्रों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। यद्यपि विदेशी आलोचकों की दृष्टि से स्वास्थ्य-सेवा में हमारा राष्ट्र एशिया में सर्वोत्तम है, फिर भी इसका आदर्श हमें उच्चतम रखना चाहिये।

शिक्षा के लिये देश की आवश्यकता के अनुकूल प्राविधिक (Technical) संस्थायें और बढ़ायी जाँय। नवभारत के निर्माण के लिये वैज्ञानिकों, इञ्जीनियरों तथा अन्य प्राविधिक शिक्षा प्राप्त युवकों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्त्ति वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के आमूल परिवर्त्तन से ही सम्भव है।

देश में मनोरंजन, शिक्षा, गृह-निर्माण, स्वास्थ्य तथा सामाजिक जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये सभी नागरिकों को समान सांस्कृतिक अवसर मिलने की व्यवस्था होनी चाहिये। बूढ़े, पंगु तथा कार्य करने में असमर्थ लोगों के लिये समाज की ओर से प्रबन्ध होना चाहिये। शिशुओं के मनोवैज्ञानिक विकास के लिये वैज्ञानिक शिक्षा आवश्यक है। नये समाज के नये मानव-मूल्यों के अनुकूल सामाजिक रचना शिशुओं के व्यक्तित्व के विकास से ही सम्भव है। आज का शिशु कल का नागरिक है। शिशु ही भावी समाज की समाजवादी पीढ़ी की रचना करेंगे, इसलिये उनकी शिक्षा-दीक्षा का आधार नये मूल्यों के अनुरूप बनाना होगा। लोक-कल्याण की बढ़ती हुई गतियों को और तेज करना होगा क्योंकि लोक-कल्याण ही मानव-मूल्यों को शान्तिमय ढङ्ग से नये रूपों में बदलने का सर्वोत्तम साधन है।

समान राष्ट्रीय विकास

राष्ट्र के ऐसे भागों या प्रदेशों की उन्नति को हमें प्राथमिकता देनी होगी, जो अभी तक पिछड़े हुये हैं, जहाँ की आर्थिक उन्नति अभी बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में है। समाजवादी व्यवस्था में योजना का मुख्य दृष्टिकोण यही होता है कि राष्ट्र में चतुर्मुखी उन्नति हो तथा उन्नति की योजनायें राष्ट्र के सभी प्रदेशों में समान रूप से बँटी हो। किसी भी प्रदेश के एकाङ्गी विकास से उन्नति पंगु हो जाती है, इसलिये योजना के कार्यान्वय का क्षेत्र सारा भारत होगा तथा सभी प्रदेशों की

उन्नति के लिये समान अवसर एवं वैज्ञानिक व्यवस्था होगी। विभिन्न राज्यों में विकास के लिये कितनी उत्सुकता है यह उनकी मांगों से स्पष्ट हो जायगा, जिसे पूर्णरूपेण स्वीकार कर लेने पर उनके खर्च का कुल जोड़ ९० अरब से १ खरब तक पहुँच गया होता। उसमें से एक चौथाई से भी कम केवल २२ अरब १४ करोड़ की स्वीकृति दी जा सकी। नीचे कुछ राज्यों की माँग तथा स्वीकृति के आँकड़े दिये गये हैं,

राज्य का नाम	प्रथम योजना	द्वितीय योजना के लिये माँग	स्वीकृति
(१) उत्तर प्रदेश	—	७ अरब २५ करोड़	२ अरब ६५ करोड़
(२) मद्रास	—	२ अरब २५ करोड़	—
(३) पंजाब	३३ करोड़ ६ लाख	३ अरब ८१ लाख	१ अरब ६३ करोड़ ७९ लाख
(४) प० बंगाल	—	३ अरब २२ करोड़	१ अरब ६१ करोड़ ४५ लाख
(५) आसाम	—	२ अरब ९० करोड़	—
(६) मध्य प्रदेश	४८ करोड़	४ अरब १२ करोड़	१ अरब ३० करोड़
(७) उड़ीसा	१९ करोड़ १७ लाख	१ अरब २१ करोड़	—
(८) बिहार	६३ करोड़ ७ लाख	६ अरब ४२ करोड़	—
(९) मध्यभारत	२१ करोड़ ४९ लाख	१ अरब ४४ करोड़	७० करोड़

राज्य का नाम	प्रथम योजना	द्वितीय योजना के लिये माँग	स्वीकृति
(१०) राजस्थान	—	१ अरब ६७ करोड़	१ अरब २० करोड़ ८६ लाख
(११) पेप्सू	—	५४ करोड़ ४७ लाख	३८ करोड़ २३ लाख
(१२) हैदराबाद	—	४ अरब	१ अरब १३ करोड़
(१३) त्रावनकोर कोचीन	—	१ अरब ३१ करोड़ ८८ लाख	—
(१४) दिल्ली	१० करोड़ ५७ लाख	१ अरब २५ करोड़	१८ करोड़ ३६ लाख
(१५) भोपाल	—	३५ करोड़ ४० लाख	१८ करोड़
(१६) हिमांचल प्रदेश	—	३४ करोड़	—
(१७) कुर्ग	—	२५ करोड़ ३३ लाख	—

इन राज्यों के अलावा केन्द्रीय मंत्रालयों ने भी अपनी मांगे प्रस्तुत की हैं जिसमें लगभग २६ अरब रुपया व्यय होगा। जैसे रेलवे विभाग ने १४ अरब ८० करोड़ रुपये की माँग की है, जिसमें ११ अरब २२ करोड़ की स्वीकृति मिली। पहली योजना में स्वास्थ्य पर १ अरब ३८ करोड़ रुपये व्यय किये गये थे, इस योजना में २ अरब ८ करोड़ रुपये व्यय का अनुमान है। शिक्षा विभाग ने भी पहली योजना से ३ अरब ५० करोड़ रुपया अधिक मांगा है अर्थात् १० अरब ८० करोड़ की उनकी योजना है। इस प्रकार द्वितीय योजना में बहुमुखी विकास के लक्षण हैं तथा राष्ट्र के सभी अङ्ग अपने उत्थान के प्रति सजग हैं।

कृषि और उद्योग

प्रथम पंचवार्षिक योजना में हमने अपनी कृषि की समस्यों को हल करने में ध्यान दिया था, किन्तु कृषि की उन्नति भी आज के वैज्ञानिक युग में कृषि- उद्योगों की उन्नति पर आश्रित होती है। एक ऐसा युग था जब कि उद्योगों का कृषि पर बोल-बाला था। छोटा सा औद्योगिक देश ब्रिटेन दुनियाँ के बहुत बड़े हिस्से पर राज्य करता था। लेकिन उपनिवेशों के स्वातंत्र्य-आन्दोलन ने उस स्थिति को सदा के लिये समाप्त कर दिया है। आज दुनियाँ की प्रधान शक्ति इङ्गलैंड में नहीं है, बल्कि रूस और अमेरिका में है, जहाँ के अर्थतंत्र में कृषि और उद्योग दोनों का सन्तुलित विकास है। भारत को विश्व में अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये तथा आन्तरिक परिस्थितियों में समाजवादी रूप लाने के लिये राष्ट्रीय अर्थतन्त्र में कृषि तथा उद्योग दोनों की उन्नति को समन्वित करना होगा। कृषि और उद्योग का संघर्ष पूँजी-वादी व्यवस्था की देन है, समाजवाद का लक्ष्य तो दोनों को बढ़ाना है तथा दोनों के विकास इस दृष्टिकोण से एक दूसरे के पूरक हैं।

जनता का क्रियात्मक सहयोग

योजना की सफलता के लिये एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दशा यह है कि सार्वजनिक कार्य-क्रम में जनता का सहयोग हो। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ४५००००० आदमियों की संख्या बढ़ती जाती है। हम अपनी जन-संख्या की इस वृद्धि को राष्ट्रीय उन्नति के लिये अभिशाप भी समझ सकते हैं और वरदान भी। पूरे समाज में यदि ४० प्रतिशत जन-संख्या को श्रम-शक्ति के अन्तर्गत समझा जाय तो भारत को प्रतिवर्ष १८००००० नये मनुष्य काम करने के लिये मिलते हैं, जिन्हें काम में लगाना हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि हमारे लिये उन्नति की एक आवश्यक

तथा उपादेय दशा हो जाती है। इसके अलावा अभी भी शहर तथा गाँवों में बहुत से लोग बेकारी और अर्द्ध-बेकारी दशा में पड़े हैं, इसलिये हमारी योजना को इतना विशाल होना चाहिये कि प्रतिवर्ष नये उत्पन्न होनेवाले १८००००० श्रमिकों को तथा वर्त्तमान बेकार लोगों को काम दिया जा सके। जन-सहयोग का अर्थ केवल आर्थिक ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक भी है। यदि जनता राष्ट्र के निर्माण कार्यों के प्रतिसजग नहीं है, तो योजना का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। जनता के सक्रिय सहयोग को प्राप्त करने के लिये अपनी योजनाओं के प्रति उनमें जागरुकता पैदा करनी होगी और वह तभी सम्भव है, जब कि जन-जीवन का जीवन-मान ऊपर उठाया जाय। उपभोग के वस्तुओं पर प्रति व्यक्ति २२ रुपये का खर्च प्रतिमास है, जिसमें १३ रु० नकद तथा ६ रु० घर में पैदा हुये या बनाये गये सामानों के रूप में है। प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा पर केवल चार आना प्रतिमास तथा चिकित्सा पर सात आना प्रतिमास खर्च किया जाता है। यह तो पूरे राष्ट्र के औसत का आँकड़ा है। १८५००००००० मनुष्य अर्थात् आबादी के आधे लोग उपभोग के लिये १३ रुपये प्रतिमास से भी कम खर्च करने की क्षमता रखते हैं। स्कूल जाने लायक बच्चों में केवल ५०% प्रारम्भिक शिक्षा, पाँचवें भाग से भी कम माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। जीवन-स्तर के इस नीचे रूप में समाजवादी चेतनता तथा समाजवादी कर्त्तव्यों का उदय नहीं हो सकता, इसलिये जनता का सहयोग पाने के लिये हमें जीवन-मान में क्रान्ति करनी होगी तथा जनता के सम्मुख कुछ ऐसे ठोस कार्य रखने पड़ेंगे, जिनकी सार्थकता में जनता को विश्वास हो।

योजना का उद्देश्य

जिन आवश्यकताओं की व्याख्या की गई है, उनसे योजना के

उद्देश्य साफ हो जाते हैं। इन उद्देश्यों की चर्चा "Second Five year plan'—The Frame work" (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार) में पृष्ठ १३ पर की गई है;

(१) राष्ट्रीय अर्थतन्त्र में तेजी से वृद्धि करना—जो सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्व तथा क्षेत्र को विस्तृत करने से सम्भव है और इस प्रकार समाज को समाजवादी रचना की ओर अग्रसर करना;

(२) उत्पादक-पदार्थों (Producer goods) का निर्माण करने के लिये बुनियादी भारी उद्योगों को विकसित करना, जिससे कि आर्थिक स्वाधीनता की नींव मजबूत हो;

(३) उपभोग की सामग्रियों को यथासम्भव कुटीर उद्योगों से बढ़ाना तथा इन उत्पादित सामग्रियों के लिये उपयुक्त बाजार बनाना,

(४) कारखानों के द्वारा बननेवाले उपभोग की सामग्रियों को इस प्रकार उत्पादित करना, कि उन सामग्रियों से घरेलू उद्योग-धन्धों में बने सामानों के साथ प्रतिस्पर्धा न हो;

(५) कृषि में उत्पादन-क्षमता को बढ़ाना; कृषि-सुधारों की गति को तेज करना जिससे कि जमीन जोतनेवालों में भूमि का उचित बँटवारा हो जाय तथा खाद्यान्नों और कृषि के अन्य उत्पादनों में वृद्धि एवं ग्राम्य क्षेत्रों में क्रय-शक्ति की वृद्धि सम्भव हो;

(६) जनता को विशेष रूप से निर्धन लोगों को मकान, अच्छी चिकित्सा सेवायें तथा शिक्षा के अधिक अवसर देना;

(७) बेकारी की समस्या को यथा शीघ्र समाप्त कर देना—जिससे कि अधिक से अधिक दस साल के समय में सभी को काम मिल जाय।

(८) और इन उद्देश्यों के फलस्वरूप पूरे योजना-काल में राष्ट्रीय आय की २५ प्रतिशत वृद्धि करना और इस आय को न्यायोचित ढङ्ग से जनता में वितरित करना।

योजना के इन उद्देश्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भारत अपने आर्थिक विकास को शान्तिमय साधनों से समाजवादी व्यवस्था की ओर आगे बढ़ाना चाहता है। यदि हम अपने इन लक्ष्यों में सफल हो जाते हैं, तो भावी समाजवाद की भूमिका मात्र तैयार कर सकेंगे।

उत्पादन में वृद्धि का अनुमानित लक्ष्य

शक्ति तथा पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि का जो अनुमान किया गया है, वह अन्तिम नहीं है, फिर भी उसके खाके से हमें इस काल में राष्ट्रीय उन्नति का चित्र मिल सकता है। पहले खाने में वस्तुओं का नाम, दूसरे में उनकी इकाई; तीसरे में १९५०–५१ तथा १९५३–५४ का, चौथे खाने में १९५५–५६ तथा १९६०–६१ का अनुमानित उत्पादन दिया गया है। अन्तिम खाने में वृद्धि का प्रतिशत बतलाया गया है।

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक		अनुमानित		प्रतिशत
		१९५०–५१	१९५३–५४	१९५५–५६	१९६०–६१	वृद्धि
(क) कारखानों से उत्पादित						
उत्पादन-पदार्थ						
१ बिजली	दस लाख किलोवाट	२.३	२.८	३.५	६.०	७१%
२ कोयला	दस लाख टन	३२	३६	३७	६०	६२ ,,
३ संश्लेषण के द्वारा बनाया गया पेट्रोल	हजार टन	कुछ नहीं	कुछ नहीं	कुछ नहीं	३००	....

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक		अनुमानित		प्रतिशत
		१९५०–५१	१९५३–५४	१९५५–५६	१९६०–६१	वृद्धि
४ फौलाद (Steel)	दस लाख टन	१·१	१·१	१·३	५·०	२८५ ,,
५ कारखानों के लिये कच्चा लोहा	,, ,,	....	....	०.४	१·८	३५० ,,
६ लोहे का खनिज	,, ,,	३	४	४	१३	२२५ ,,
७ अलमुनियम	हजार टन	३·७	३·८	५	४०	७०० ,,
८ मैंगनिज का खनिज	दस लाख टन	१	२	२	३·५	७५ ,,
९ सीमेन्ट	,, ,,	२·७	४·०	४·६	१०·०	१०८ ,,
१० खाद						
(क) नाइट्रोजन-सम्बन्धी	हजार टन	९·२	६१·४	९०	५६०	३०० ,,
(ख) फासफेट सम्बन्धी	,, ,,	५५	६६	१००	२००	१०० ,,
११ भारी रासायनिक पदार्थ						
(क) सलफ्यूरिक एसिड	,, ,,	९९	१२०	१५०	४५०	२०० ,,
(ख) सोडा ऐश	,, ,,	४५	५६	७५	२००	१६७ ,,
(ग) कास्टिक सोडा	,, ,,	११	२५	३३	१००	२०

पदार्थों का नाम	इकाई	वास्तविक १९५०–५१	वास्तविक १९५३–५४	अनुमानित १९५५–५६	अनुमानित १९६०–६१	प्रतिशत वृद्धि
१२ औद्योगिक संस्थापनों के लिये भारी मशीनरी						
(क) फौलाद तथा उत्पादक पदार्थ (लागत व्यय)	करोड़ रुपया	×	×	×	१५०	....
(ख) बिजली के सामान (लागत व्यय)	,, ,,	×	×	×	४०	....
(ग) उपभोक्ता-पदार्थ	निर्देशाङ्क	....	....	१००	२००	१०० ,,
१३ रेलवे के सामान						
(क) इञ्जन	संख्या	×	८६	१००	४००	३०० ,,
(ख) डिब्बे (मालगाड़ी)	संख्या	१०९५	६८९२	७०००	२०,०००	१८६ ,,
(ग) डिब्बे (सवारी)	संख्या	४७९	७८६	८००	२०००	१५० ,,
१४ जूट के सामान	हजार टन	८९२	८६४	१०००	१२००	२० ,,
(ख) कारखानों के द्वारा उत्पादित उपभोग के सामान						
१५ सूती कपड़ा	दस लाख गज	३७१८	४९०६	५०००	५५००	१० ,,

पदार्थों का नाम	इकाई	वास्तविक		अनुमानित		प्रतिशत
		१९५०–५१	२९५३–५४	१९५५–५६	१९६०–६१	वृद्धि
१६ ऊनी कपड़ा	दस लाख पौंड	१८	२०	२०	२५	२५ ,,
१७ चीनी	,, टन	१·१	१·१	१·४	२.१	५० ,,
१८ वेजीटेबुल घी	,, टन	१·२	१·४	१·५	२·०	३३ ,,
१९ कागज़	हजार टन	११४	१३७	१४०	२००	४३ ,,
२० बाइसिकिल	हजार	१०१	२९०	५००	१०००	१०० ,,
२१ कपड़ा सीने की मशीन	,,	३३	६८	९०	१५०	६७ ,,
२२ बिजली के सामान	निर्देशाङ्क	....	....	१००	१६६	६६ ,,
(ग) दस्तकारों से बने						
उपभोग के सामान						
२३ खादी तथा हैंडलूम	दस लाख गज़	७४२	१२००	१६००	३२००	१०० ,,
२४ साबुन	हजार टन	....	....	२८	४०	४३ ,,
२५ जूते	दस लाख जोड़ा	....	....	८०	१००	२५ ,,
२६ भोज्य पदार्थ	निर्देशाङ्क	....	....	१००	१२०	२० ,,
२७ धातु के बर्तन	,,	....	....	१००	१३३	३३ ,,

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक १६५०–५१	१६५३–५४	अनुमानित १६५५–५६	१६६०–६१	प्रतिशत का वृद्धि
(घ) कृषि तथा सम्बन्धित उपज						
२८ खाद्यान्न	१० लाख टन	४१·७	५६·१	५६	६३	१३ ,,
२६ चना और दालें	,, ,,	८·३	६·६	१०	१३	३० ,,
३० सम्पूर्ण खाद्यान्न	,, ,,	५०·०	६५·७	६६	७६	१५ ,,
३१ तेलहन	,, ,,	५·१	५·६	५·६	७·०	२५ ,,
३२ रूई	,, गाँठ	२·६	३·६	४·२	५·८	३८ ,,
३३ पटसन	,, ,,	३·३	३·१	५·०	५·४	८ ,,
३४ गन्ना (कच्चा)	१० लाख टन	५·६	४·६	५·०	७·५	५० ,,
३५ तम्बाकू	हजार टन	२५७	२५६	२५०	३००	२० ,,
३६ चाय	१० लाख टन	६०७	६७५	६७५	७५०	११ ,,
३७ दूध	निर्देशक	....	....	१००	१२५	२५ ,,
३८ ऊन	१० लाख पौं०	....	....	४०	५०	२५ ,,
३६ लकड़ी	निर्देशक	....	....	१००	१३०	३० ,,
४० मछली	,,	....	....	१००	१२५	२५ ,,
(ङ) ग्राम्य-विकास						
४१ सिंचाई	१० लाख एकड़	५०	५८	७०	१००	४३ ,,

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक १९५०–५१	वास्तविक १९५३–५४	अनुमानित १९५५–५६	अनुमानित १९६०–६१	प्रतिशत वृद्धि
११ ४२ सामुदायिक विकास-योजना	ब्लाक की संख्या	....	४७९	१२००	५६००	३६७ %

(च) यातायात (रेलवे)

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक १९५०–५१	वास्तविक १९५३–५४	अनुमानित १९५५–५६	अनुमानित १९६०–६१	प्रतिशत वृद्धि
४३ मील-यात्रा	मील	....	....	३४५००	३७५००	९ ,,
४४ यात्रा में वृद्धि	निर्देशांक	....	....	१००	१३०	३० ,,
४५ सामान का किराया और सड़कें	टन-मील	....	....	१००	१४०	४० ,,
४६ राष्ट्रीय सड़कें	हजार मील	११·९	....	१२·५	१७·५	४० ,,
४७ राज्य की सड़कें (जलयान)	,, ,,	१७·६	....	२०·०	३५·०	७५ ,,
४८ टनेज	हजार	३९१	५२५	६१०	१५००	१४६ ,,

(छ) सामाजिक सेवायें (शिक्षा)

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक १९५०–५१	वास्तविक १९५३–५४	अनुमानित १९५५–५६	अनुमानित १९६०–६१	प्रतिशत वृद्धि
४९ छात्र (६–११ साल)	लाख	१८७	....	२३६	३८०	....
५० ,, (११–१४ ,,)	,,	३४	....	५१	८०	....

पदार्थों के नाम	इकाई	वास्तविक		अनुमानित		प्रतिशत वृद्धि
		१९५०–५१	१९५३–५४	१९५५–५६	१९६०–६१	
५१. (६–११ साल) छात्रों का प्रतिशत		४२	....	५०	७५	५०
५२. (११-१४ साल) छात्रों का प्रतिशत		१४	....	२०	३०	५०
५३. प्राविधिक तथा उच्च शिक्षा एवं अनुसन्धान कार्य (स्वास्थ्य)	निर्देशांक	....	....	१००	१७५	७५ ,,
५४ अस्पताल में विस्तर	हजार	१०७	११२	१२५	२५०	१०० ,,
५५ रजिस्टर्ड डाक्टर	,,	....	६५	७०	९०	२९ ,,
५६. स्वास्थ्य-सहयोगी (गृह-निर्माण)	निर्देशांक	....	....	१००	३००	२०० ,,
५७. नगर में भवन (संदेश वाहन)	लाख	१०१	....	१२०	१५०	२५ ,,
५८. डाक घर	हजार	३७	४७	५३	७८	४७ ,,
५९ तार घर	,,	३६	३९	४८	७०	४६ ,,
६० टेलीफोन	,,	१६८	२२०	३००	६००	१०० ,,

सम्भावित लक्ष्यों से संकेत

इन आँकड़ों की और प्रत्येक मद में किये गये अनुमान से हमारी क्रियाओं की दिशा निश्चित होती है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान की बुनियाद लोहा, फौलाद (Steel) तथा कोयला के उत्पादन पर निर्भर करती है। भारत ने कच्चे लोहे के उत्पादन में ३५०% लोहे के खनिजों के उत्पादन में २२५% और फौलाद के उत्पादन में २८५% वृद्धि करने का निश्चय किया है। शक्ति के साधनों में कोयला के उत्पादन में ६२% और बिजली में ७१% की वृद्धि के लिये योजना बनाई गई है तथा रासायनिक संश्लेषण से ३००,००० टन पेट्रोल बनाया जायगा। इसके अलावा अलमुनियम में ७००%, रासायनिक पदार्थों में करीब २००% तथा खाद में ३००% की वृद्धि हमारी योजना का लक्ष्य है। उद्योगों के विकास में योजना में लगायी जानेवाली पूँजी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक तिहाई रुपया व्यय होगा।

इन आँकड़ों से दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि सार्वजनिक सेवा कार्यों में बहुत ध्यान दिया गया है। योजना में लगनेवाली कुल पूँजी का २४ प्रतिशत रुपया जन-कल्याण में खर्च होगा, जिससे कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक उन्नति मनोरञ्जन आदि का स्वस्थ विकास हो सके तथा इनके लाभ का अवसर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध हो।

इन दोनो निष्कर्षों से हमारा यह सोचना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि हमारी व्यवस्था समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ रही है। लेनिन और नेहरू के विचारों में भारी उद्योगों के महत्त्व पर कितनी समानता है; लेनिन ने इस विषय पर संकेत किया था;

"....जब तक कि हमलोग भारी उद्योगों की रक्षा नहीं करते; हम भारी उद्योगों का निर्माण नहीं करते, हम कोई भी उद्योग

नहीं चला सकेंगे और स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह हमारा अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

"रूस की मुक्ति केवल खाद्यान्नों की उपज पर निर्भर नहीं करती—उतना ही काफी नहीं है, और केवल हल्के उद्योग काफी नहीं हैं जिनसे किसानों को उपभोग की सामग्री मिल जाती है—यह भी काफी नहीं है, हमें भारी उद्योगों की आवश्यकता है।" (लोकशिन के द्वारा उद्धरण, (Industry in the U. S- S. R.) मास्को, पृ० ६)

ठीक यही बात नेहरू जी ने "द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना की ओर" ('आर्थिक-समीक्षा' द्वितीय पञ्चवर्षीय आयोजन विशेषाङ्क, पृ० १४) लेख में लिखा है। "मैं कहता हूँ कि बगैर भारी उद्योग के कोई देश आजाद नहीं रह सकता—मैं कहता हूँ कि इसके बिना आजादी की कोई ताकत नहीं होती।" लोक-कल्याण के कार्यों के विकास पर तो शायद ही विरोध सम्भव हो।

बेकारी का हल

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में जो विकास-कार्य किये जाँयेगें, उनसे बेरोजगारी की समस्या काबू में आ जानी चाहिये। नये-नये संस्थापनाओं तथा कुटीर-उद्योग, कृषि एवं नये सार्वजनिक कार्यों में निम्नलिखित रोजगार पैदा किया जायगा;

क्षेत्र	(दस लाख)		वृद्धि	
	१९५५-५६	६०-६१	वास्तविक	प्रतिशत
(१) कृषि तथा सम्बन्धित धन्धे—	१०९·५	१११·०	१·५	४१ %
(२) खान और कारखाने—	४·०	५·७	१·७	४२ ,,
(३) घरेलू धन्धे और निर्माणकार्य—	१२.०	१५·०	३·०	२५ ,,
(४) संचार, रेलवे बक, बीमा—	१·६	२·०	·४	२५ ,,
(५) थोक और खुदरा व्यापार— और यातायात (रेलवे को छोड़कर)	१०·०	१२·०	२·०	२० ,,
(६) व्यवसाय, नौकरियाँ (सरकारी)	१४·९	१७·३	२.४	१६ ,,
योग	१५२·०	१६३·०	११·०	७ ,,

इस योजना में इस प्रकार ११०००००० नये बेकार लोगों को काम देने का निश्चय है। बेकारी की समस्या किसी भी राष्ट्रीय व्यवस्था के लिये कलंक है। प्रत्येक नागरिक को काम पाना उसका जन्म सिद्ध अधिकार है। भारतीय सम्विधान में भी प्रत्येक नागरिक के इस अधिकार को सुरक्षित रखा गया है। हमें सच्चे समाजवाद को लाने के लिये वास्तव में "सबसे योग्यता के अनुकूल काम तथा सबको आवश्यकता के अनुकूल अवसर और साधन" के सिद्धान्त को साकार करना पड़ेगा।

राष्ट्रीय आय

१९५०–५१ 'प्रथम वार्षिक योजना' का प्रारम्भिक वर्ष है, उस साल निश्चित घरेलू उत्पादन

(net domesticoutput) ६१६०००००००० रुपये का था, वह १६५३–५४ में बढ़कर १०३१०००००००० रु० का हो गया। इस प्रकार इससे ११२०००००००० रु० या १२·२% वृद्धि का संकेत मिलता है। सम्भव है कि यह वृद्धि पहले के कृषि-उत्पादनों के आँकड़ों में कमी के कारण अधिक हो गया हो, लेकिन उनके अनुसार सुधार करने पर भी चार वर्षों में १०% की तो वास्तविक वृद्धि हुई ही।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में लागत और विकास का क्रम पहली योजना का करीब दुगुना होगा। आय की वृद्धि का भी दर लगभग दुगुना ही होगा अर्थात् प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत होगा। आलोचकों ने इस वृद्धि को जनतान्त्रिक व्यवस्था के लिये अग्राह्य बतलाया है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि का अनुमान निम्नलिखित है।

क्षेत्र	वास्तविक १६५०–५१		अनुमान १६५५–५६		१६६०–६१		प्रतिशत वृद्धि
(१) कृषि तथा सम्बन्धित धन्धे	४५·२	(१०० करोड़)	५२·८	(१०० करोड़)	६३·४	(१०० करोड़)	२०%
(२) खान और कारखाने	६·६	,,	६·०	,,	१५·०	,,	६७ ,,
(३) घरेलू धंधे और निर्माण कार्य	६·३	,,	१०·२	,,	१४·३	,,	४० ,,
(४) संचार, रेलवे, बैंक आदि	३·१	,,	३·६	,,	४·७	,,	३० ,,
(५) थोक और खुदरा व्यापार; दूसरे यातायात	१३·४	,,	१५·१	,,	१८·८	,,	२५ ,,
(६) व्यवसाय, नौकरियाँ	१४·३	,,	१७·३	,,	२०·८	,,	२० ,,
योग	६१·६	,,	१०८·०	,,	१३७·०	,,	२७ ,,
(७) जन-संख्या (दस लाख)	३५६·३		३८३·७		४०६·७		७ ,,
(८) प्रति व्यक्ति आय (रुपया)	२५६		२८२		३३४		१६ ,,

जन-संख्या के ७% बढ़ने पर भी प्रतिव्यक्ति के आय में १६% वृद्धि होगी। समाजवादी रचना की ओर उन्मुख आर्थिक व्यवस्था में योजनान्वित उत्पादन-क्षमता की वृद्धि जन-सहयोग पर निर्भर करती है। दूसरे जनवादी देश बलपूर्वक जनता से कार्य लेते हैं, शान्तिमय समाजवादी व्यवस्था में जनता का सहयोग आन्तरिक तथा स्वयंभूत होना चाहिये।

उत्पादन का सन्तुलन

उत्पादन के एकाङ्गी विकास से राष्ट्र का सर्वाङ्गीण उत्थान सम्भव नहीं; इसलिये देश के विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन तथा उनके अनुमानित वृद्धि में भी संतुलन होना आवश्यक है। यद्यपि देश की बुनियादी जरूरतों को दृष्टि में रखकर भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी गई है, लेकिन इस विकास को कुटीर उद्योगों की उन्नति से संतुलित किया गया है, जिससे कि अधिक-से-अधिक लोगों को काम दिया जा सके। प्रस्तावित योजना में कुल ५६०० करोड़ रुपिये का व्यय आँका गया है और इस कुल विनियोग में ३४०० करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र से और २२०० करोड़ निजी क्षेत्र से खर्च किया जायगा। विभिन्न क्षेत्रों में विनियोग के व्यय का अनुपात नीचे दी गई तालिका में प्रकट है।

	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	योग	प्रतिशत
(१) बिजली	४५०	५०	५००	८.६
(२) उद्योग	१०००	४००	१४००	२५.०
(३) यातायात और संचार	८५०	५०	९००	१६.१
(४) कृषि, सिंचाई, ग्रामोत्थान	७५०	२००	९५०	१७.१
(५) निर्माण (मकान, स्कूल, अस्पताल, सार्वजनिक इमारतें)	२५०	११००	१३५०	२४.०
(६) जमा माल	१००	४००	५००	९.६
कुल जोड़	३४००	२२००	५६००	१००

उद्योगों में प्राथमिकता का क्रम

स्वतन्त्र समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये उद्योग तथा निर्माण कार्यों पर योजना का आधा व्यय किया जायगा; उद्योगों में भी व्यय का अधिक अनुपात भारी उद्योगों में, जो नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जायगा;

उद्योग	पूँजी (करोड़ रुपया)	प्रतिशत
१. लोहा और इस्पात	४२५	३०·४
२. रासायनिक संश्लेषण से बना पेट्रोल	८०	५·७
३. औद्योगिक संस्थापनाओं के लिये मशीनरी		
(क) इस्पात	१५०	१०·७
(ग) बिजली का सामान	४०	२·६
(घ) उत्पादक तथा उपभोग्य वस्तुयें	५०	३·६
४. सिमेंट रासायनिक पदार्थ	१००	७·१
५. वर्त्तमान राजकीय उद्योग	५०	३·६
६. अलमुनियम	३०	२·१
७. खनिज पदार्थ (और उनकी खोज)	७५	५·४
८. खाद	१००	७·१
६. कारखानों में बना उपभोक्ता माल	१००	७·१
१०. गृह और हस्त उद्योग	२००	१४·३
पूर्ण योग	१४००	१००

भारी उद्योगों की प्राथमिकता दी गई, लेकिन कुटीर उद्योगों में भी २००,००,००,००० रुपिया या उद्योग पर लगनेवाले व्यय का १४·३ प्रतिशत लगाया जायगा, जिससे कि अधिक संख्या में लोगों को काम दिया जा सके।

सरकारी व्यय का वितरण

कुल विनियोग में सार्वजनिक क्षेत्र का ३४,०० करोड़ रुपया होगा तथा सामाजिक सेवाओं के बार-बार होनेवाले खर्चों पर विकास व्यय के रूप में ९०० करोड़ रुपये खर्च होंगे। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र से कुछ व्यय ४३०० करोड़ रुपये का होगा। इस व्यय को नीचे दी गई तालिका के अनुसार बाँटेंगे।

क्षेत्र	व्यय (करोड़ रुपया)	प्रतिशत
(१) बिजली	४५०	११ %
(२) खेती, सिंचाई और ग्रामोत्थान	९५०	२२ ,,
(३) उद्योग और खदान	११००	२६ ,,
(४) यातायात और संचार	९५०	२२ ,,
(५) सामाजिक सेवा और निर्माण	७५०	१७ ,,
(६) जमामाल	१००	२ ,,
कुल जोड़	४३००	१००

वित्तीय या भौतिक आयोजन

अब प्रश्न यह उठता है कि अपनी योजना के आकार को हमने इतना लम्बा क्यों कर दिया? इतनी लम्बी आयोजना की सफलता कैसे सम्भव है तथा इसके लिये पूँजी कहाँ से आयेगी? कुछ लोग सोचते हैं कि योजना के आकार को हमारे स्पष्ट वित्तीय साधनों तथा वर्त्तमान उत्पादक शक्तियों की सीमाओं से नियन्त्रित होना चाहिये। 'उतना पैर पसारिये कि जितना चादर होय' इनके विचार करने का तरीका है। ये लोग यह ध्यान नहीं देते कि चादर को बड़ा करने पर भी तो सोचा जा सकता है। ६ फुट के आदमी को हम दो फुट के चादर में चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, नहीं ढक सकते और इसलिये विचार

यह करना पड़ेगा कि चादर की लम्बाई को बढ़ाकर किसी प्रकार कम से कम दो गज की बनाई जाय। योजना बनाते समय पहले हमारी जन-संख्या तथा उसकी सम्भावित वृद्धि की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ेगा और बाद में यह सोचना होगा कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हम साधन कहाँ से जुटायें। हमारे देश में विपुल खनिज धन है, महान उर्वरा शक्ति है और विशाल जन-समूह का श्रम बल है, फिर हमें किन साधनों की कमी है। औपचारिक तथा वित्तीय साधन तो हमारे श्रम से बढ़ाये जा सकते हैं।

वैकासिक तथा अवैकासिक व्यय में अनुपात

सार्वजनिक क्षेत्र में दो प्रकार के व्यय की समस्या है। कुछ खर्च तो आम गैर विकास कार्यों में होगा तथा कुछ विकास सम्बन्धी योजनाओं में। योजना में ४३०० करोड़ रुपयों की पूँजी जरूरी है। सरकार के कुल खर्च का आँकड़ा नीचे दिया गया है;

क्षेत्र	१९५५-५६ (करोड़ रुपिया)	१९६०-६१	द्वितीय योजना को कुलयोग
१. रक्षा और प्रशासन			
(गैर-विकास कार्य)	६२५	७२५	३४००
२. विकास			
(क) योजना में	६००	११००	४३००
(ख) योजना से बाहर	२००	२२५	११००
पूर्णयोग	१४२५	२०५०	८८००

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार का व्यय १९५५–५६ में जो १४२५ करोड़ रुपया है, वह योजना के अन्तिम वर्ष में २०५० करोड़ रुपया हो जायगा, और इस योजनाकाल में पूर्ण विकास पर किया गया

व्यय ८०० करोड़ रुपये से १३२५ करोड़ रुपया हो जायगा। साथ ही योजना के भीतर जो विकास-कार्य होंगे, उनमें भी ६०० करोड़ रुपये से ११०० करोड़ रुपये तक वृद्धि हो जायगी। इस वृद्धि के अनुपात का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवैकासिक कार्यों पर व्यय की वृद्धि न के बराबर है, जब कि योजना के भीतर पूँजी की वृद्धि ६०० करोड़ से ११०० करोड़ करीब दुगुने के बराबर हो जायगी।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में पूरा का पूरा सरकारी व्यय ८८०० करोड़ रुपिये का है जिसमें ३४०० करोड़ रुपये रक्षा और प्रशासन में तथा ५४०० करोड़ रुपये योजना के भीतर और बाहर विकास-कार्यों में खर्च किये जाँयगे। योजना के प्रारम्भिक वर्ष में कुल सरकारी खर्च का ५६% विकास योजनाओं में लगेगा तथा विकास योजनाओं में किया जानेवाला व्यय योजना के अन्तिम वर्ष में ६४·६% हो जायगा। इस प्रकार योजना के अन्त में विकास के ऊपर किये जानेवाले व्यय में ५·६% की उन्नति होगी। समाजवादी सरकार को निरन्तर अवैकासिक योजनाओं की तुलना में वैकासिक योजनाओं के व्यय की वृद्धि करते रहना चाहिये; यह भी समाजवादी दिशा की ओर हमारी प्रगति की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है।

वित्तीय साधन

पूरी पञ्चवर्षीय योजना के काल में सरकार को ८८०० करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी। अब प्रश्न यह उठता है कि इतना रुपया सार्वजनिक क्षेत्र में आवेगा कहाँ से। राजस्व से ५२०० करोड़ रुपये की प्राप्ति होगी जो सन्तुलित कर व्यवस्था से केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारें वर्त्तमान अनुपात को कायम रखकर प्राप्त करेंगी। सरकार जनता से कुल राष्ट्रीय आमदनी का ७% प्रतिशत भाग राजस्व के रूप में प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त उसे कुल राष्ट्रीय आमदनी का १·५ प्रतिशत

रेलवे आदि की आमदनी से मिलता है अर्थात् राष्ट्रीय आय में सरकारी आमदनी ८·५ प्रतिशत है जो ५२०० करोड़ रुपये होगी तथा योजना की आवश्यकता को ५६% पूरा करेगी। राष्ट्रीय ऋणों तथा विविध वचत-योजनाओं के द्वारा १००० करोड़ रुपया अर्थात् योजना के पूरे अनुमानित व्यय का ११·४% मिल सकेगा। रेलवे से अतिरिक्त बचत २०० करोड़ रुपयों की जा सकती है। यह पूरे व्यय का २·३% होगा। बाहरी मदद से ४०० करोड़ रुपयों की आशा है, जो योजना के लिये आवश्यक पूँजी का ४·६ प्रतिशत होगा। इस प्रकार इन साधनों से कुल ६८०० करोड़ रुपये प्राप्त होंगे, अर्थात् पूरी आवश्यक पूँजी में २००० करोड़ रुपयों की या पूरे व्यय के करीब-करीब २२% की कमी रह जायेगी।

कमी कैसे पूरा हो ?

इस वित्तीय कमी को पूरा करने के लिये नये कर लगाने पड़ेगें तथा सरकार के द्वारा संचालित उद्योगों के लाभपर निर्भर रहना होगा। योजना की अवधि में अधिक-से-अधिक १०० करोड़ रुपये की घाटे की वित्त व्यवस्था सम्भव हो सकती है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-सरकार को मिलनेवाली रकम में भी वृद्धि स्वाभाविक है। अगर सरकारी आमदनी का अनुपात ८·५% रहता है, तो करों के द्वारा १३०० करोड़ रुपिया अधिक प्राप्त हो सकता है। शेष कमी को पूरा करने के लिये करों के अनुपात में वृद्धि करनी होगी और उसे ९ या १० प्रतिशत करना होगा। घाटे को पूरा करने के लिये सरकार लोगों को अपनी आमदनी का एक हिस्सा सार्वजनिक क्षेत्र में देने के लिये वाध्य कर सकती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस घाटे को पूरा करने के लिये नये कर अनिवार्य हैं और इस राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये जनता को तैयार रहना चाहिये।

द्वितीय योजना की रूपरेखा में आय-व्यय का व्योरा नीचे दिया गया है।

व्यय			आय (करोड़ रुपया)	पूरे आय का प्रतिशत
(१) योजना पर	४३०० करोड़ रुपया	राजस्व	५२००	५६ ,,
(२) योजना के बाहर वैकासिक कार्य	११०० ,, ,,	सावंजनिक कर्ज	१०००	११·४ ,,
		रेलवे और विविध कोष	२००	२·३ ,,
(३) अवैकासिक कार्य	३४०० ,, ,,	बाहरी मदद	४००	४·६ ,,
		जोड़	६८००	७७·३
कुल जोड़	८८०० ,, ,,	(अतिरिक्त कर, ऋण राजकीय उद्योग का लाभ)	८००–१०००	१०–११
		घाटे का वित्त प्रबन्ध	१०००–१२००	११–१२
		कुल जोड़	८८००	१००

करों के द्वारा प्राप्त साधन को इस समय योजना की दृष्टि से बहुत कम समझा जा रहा है। योजना-आयोग इस समय राज्य-सरकारों से इस विषय पर सूचना चाहता है कि वे योजना का खर्च उठाने के लिये अपने वर्त्तमान साधनों से कितना रुपया इकट्ठा कर सकती हैं। राज्यों के द्वारा, लगाये जाने वाले अतिरिक्त कर का हिसाब माँगा गया है और बहुत से राज्यों ने सूचना भेज दी है। ऐसा अनुमान है कि इन करों से १५० करोड़ रुपया ही मिल सकेगा; केन्द्रीय वित्तमंत्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने लिखा है;

"....यह साफ जाहिर है कि अगर योजना में कांट-छांट नहीं करनी है या यदि मुद्रा-स्फीति के खतरों से बचना है, तो हमें निर्धारित मात्रा के बराबर कुल साधनों को जुटाने में यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये।"

(आर्थिक-समीक्षा आयोजन-विशेषांक–पृ० २०)

निजी क्षेत्र की पूँजी व्यवस्था

निजी क्षेत्र में २२०० करोड़ रुपयों के खर्च का अनुमान है, जिसमें निजी पूँजी के द्वारा ५०० करोड़ रुपया नये कारखानों, खानों तथा अन्य व्यवसायों में लगाये जाने की आशा है। यह अनुमान अब तक की निजी पूँजी की गतिशीलता पर आधारित है। सन् १९५३–५४ में भारत में जो नई कम्पनियाँ (पब्लिक और प्राइवेट) खोली गईं, उनमें ७५ करोड़ रुपया लगाया गया, इसके अलावा पुरानी कम्पनियों में ५ करोड़ नई पूँजी लगाई गई। निजी क्षेत्र ने इस प्रकार उस साल में ८० करोड़ रुपया उद्योग में लगाया। देश की समृद्धि के साथ इस पूँजी में पाँच साल की अवधि में औसत २५ प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष लगने वाली पूँजी का औसत १०० करोड़ रुपया होगा और पूरे योजना-काल में ५०० करोड़ रुपया उद्योग-व्यवसाय में लगाया जायगा।

भवन-निर्माण में पूँजपति, उच्च मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग तथा निम्न पूँजीपतियों के द्वारा आजकल १६० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष व्यय किया जाता है, जो नई परिस्थितियों में २२० करोड़ हो जायगा। इस प्रकार पाँच साल की अवधि में ११०० करोड़ रुपया इस क्षेत्र में व्यय होगा। शेष रुपया निजी क्षेत्र व्यवसाय, खेती और तत्सम्बन्धित धन्धों में लगायेगा। इस प्रकार निजी क्षेत्र में लगनेवाली पूँजी का आधा हिस्सा केवल निर्माण में व्यय होगा और फलस्वरूप उत्पादन में सार्व-

जनिक क्षेत्र के विनियोग का अनुपात पाँच सालों के बाद स्वभावतः काफी बढ़ जायगा।

विदेशी व्यापार तथा विनियम

दूसरी योजना में उत्पादक पदार्थों को बड़ी मात्रा में हमें विदेशों से मँगाना पड़ेगा। करीब-करीब १२०० करोड़ रुपये की आवश्यकता केवल आयात के लिये होगी। साथ ही बहुत-सी खराब मशीनों को बदलने के लिये ४०० करोड़ और रुपया आवश्यक होगा; अर्थात् हमें उत्पादक-सामानों को मँगाने के लिये करीब १६०० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे। इस कमी को हम खाद्यान्न, चीनी, रुई और पेट्रोल आदि के उत्पादन को बढ़ा कर पूरा करेंगे। साथ ही विदेशी सहायता के लिये हम पौंड-क्षेत्र के अलावा अन्य क्षेत्रों से भी आशा रख सकते हैं, लेकिन फिर भी हमारी बुनियादी नीति अपने निर्यात को यथा सम्भव बढ़ाने की होगी। इस विषय पर अपना विचार प्रकट हुये केन्द्रीय वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने लिखा है;

"जम कर माल बाहर भेजना योजना का एक आवश्यक अङ्ग है। भुगतान की बाकी के भावी रूप का हिसाब लगाना कठिन है।....तो भी यह निश्चित है कि प्रथम वर्षीय योजना से ६० प्रतिशत अधिक मदद के बाद भी यह योजना हमारे विनिमय-साधनों पर बहुत काफी जोर डालेगी। जब घाटे के वित्त-प्रबन्ध के फल-स्वरूप मुद्रा-प्रसार बढ़ जायगा, नोट जारी करने के खिलाफ सहारे के रूप में विदेशी विनियम भी बढ़ जायगा।"

विदेशी विनियोग पर हम आश्रित होकर अपनी योजना का आकार नहीं बना सकतें; इसलिये विदेशों से जो कुछ हम आयात करते हैं, उसके लिये सन्तुलित निर्यात होना भी आवश्यक है।

आकार का सवाल

कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह आलोचना की है कि योजना का आकार बहुत बड़ा है। प्रथम योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय में १२ या १३% वृद्धि की आशा थी, जब कि इस योजना की अनुमानित वृद्धि को २५% सोचा गया है। पूँजी लगाने की दर भी प्रथम योजना में ७% प्रतिशत थी जो द्वितीय योजना में ११ प्रतिशत कर दी जायगी। इस प्रकार पूँजी लगाने की दर में करीब ५०% की वृद्धि हो जायगी। 'कामर्स', 'ईस्टर्न इकानामिस्ट' आदि वित्तीय पत्रों ने इसकी बड़ी आलोचनायें की है। उनकी आलोचना में भारत रुसी और अन्य कम्यू-निस्ट अर्थशास्त्रियों के चक्कर में पड़ गया है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

योजना में जो २५% राष्ट्रीय आय की वृद्धि का अनुमान है, वह इन अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में जनतान्त्रिक तरीकों से सम्भव नहीं। उसके लिये अधिनायकशाही होना आवश्यक है। भारत तो शान्तिमय और लोकशाही तरीके से समाजवाद की स्थापना चाहता ही है, इसलिये। वृद्धि की योजना तो समाजवादी रहेगी ही; हाँ प्रश्न यह है कि लोग बिना बल-प्रयोग के इस उन्नति में सहायक होते हैं या नहीं। किन्तु नेहरू जी कहते हैं कि भारतीय जनता में उनका अटूट विश्वास है और क्यों न हो ? जो जनता शान्तिमय ढङ्ग से साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सकती है, वह क्या भौतिक समस्याओं के विरुद्ध सफलता-पूर्वक नहीं लड़ सकता। नीचे लिखे आँकड़ों में हम भारत की राष्ट्रीय आय की अनुमानित वृद्धि की तुलना अन्य देशों की राष्ट्रीय आय की वृद्धि से कर सकते हैं।

कुछ देशों में राष्ट्रीय आय की वृद्धि

देश	समय	वृद्धि का दर (औसत वार्षिक प्रतिशत)
संयुक्त राज्य अमेरिका	१८६९–७८–१९०४–१३	४·५
,,	१८६९–७८–१९२९	४·०
,,	१८९९–१९०८–१९२९	३·२
,,	१९२९–१९५०	३·०
कनाडा	१९०३–१९२९	२·६
स्विटजरलैंड	१८९०–१९२९	२·७
जर्मनी	१८७६–१९१३	२·८
जापान	१८८७–१९१३	३·०
,,	१९१४–१९३०	६·७
,,	१९१४–१९३७	६·७
आस्ट्रेलिया—	१९०१–०३–२८–२९	३·२
,,	१९०१–०३–४७–४८	२·५
रूस	१९२८–३७ (सरकारी)	१६
,,	१९४९–५३ ,,	१५
पोलेंड	१९४७–५३ ,,	१४·५
चेकोस्लोवाकिया	१९४८–५३ ,,	१२
हंगरी	१९५२–५३ ,,	१२
बलगेरिया	१९५२–५३ ,,	१६

भारत की राष्ट्रीय आय में वृद्धि कम्यूनिस्ट देशों की तुलना में कम है, लेकिन अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। इतनी वृद्धि सम्भव भी है और समाजवादी अभियान के लिये अनिवार्य भी।

जनता की योजना

हम दूसरी योजना को शुद्ध जनता की योजना कह सकते हैं,

क्योंकि यह जनता की समृद्धि के लिये बनाई गई है, जनता की पूँजी से संचालित होगी और जनता के द्वारा नियंत्रित होगी। श्री महालानोबिस ने योजना प्रस्तुत करते समय सरकारी नौकरशाही के विकसित होने का भय दिखलाया है तथा वर्त्तमान व्यवस्था में परिवर्तन भी आवश्यक समझा है;

"वर्त्तमान सरकार की मशीनरी में कुछ निश्चित प्रशासनीय दिक्कतें हैं, जो उपयुक्त योजना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित कर सकती हैं। इन दिक्कतों को हटाने के लिये संगठनात्मक और यहाँ तक कि संविधान-सम्बन्धी परिवर्तन भी अनिवार्य हो सकते हैं। यह समस्या बड़ी गम्भीर है और शीघ्र ही इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिये।"

(Second Five Year plan. The Frame work. Publications Division, Government of India) Page 49)

इस योजना में बेकारी की समस्या को हल करने की कोशिश जनता के स्तर को ऊँचा उठाने में निर्णायक महत्त्व रखती है। लोग इस योजना को कितना भी विशाल और अव्यवहारिक कहें, लेकिन जनता के सहयोग से यह पूरा ही नहीं होगा, बल्कि आगे भी बढ़ सकता है। प्रश्न यह है कि हम इस जन-योजना के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनायें। अपने को ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली, पञ्जाबी, तेलगू या तामिल की सीमाओं में न बाँधे। अपने श्रम को गुरुओं के बहकाने से राजनीति के शतरञ्ज में न लगायें। और फिर साधन—जहाँ करोड़ो इन्सान इमानदारी की मेहनत से खून-पसीना एक कर देंगे—वहाँ साधनों की क्या कमी? प्राचीन भारत की तरह घी-दुध की नदियाँ बहने लगेंगी।

योजना के समाजवादी तत्त्व

समाजवादी दिशा में योजनान्वित आर्थिक गति स्वयं एक कदम है। लोक-कल्याण के क्षेत्रों में कार्य उसकी दूसरी कसौटी है। योजना की कुल पूँजी अर्थात् ५६०० करोड़ रुपये में २४ प्रतिशत निर्माण कार्य में व्यय होगा, जिसमें अधिक हिस्सा सार्वजनिक उपभोग के लिये लगाया जायगा। समाजवादी व्यवस्था की ओर प्रगति का सबसे मुख्य आधार है उसके अर्थतन्त्र में निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र की अधिक वृद्धि। सार्वजनिक क्षेत्र का पलड़ा भारी होना चाहिये, जो इस योजना में अधिक स्पष्ट नहीं है, यद्यपि इस आयोजना में निजी क्षेत्र बहुत सीमित रखा गया है तथा उसमें व्यय होने वाले २२०० करोड़ रुपयों का आधा केवल निर्माण ही में लग जायगा। खान, यातायात, कारखाने, उद्योग और व्यवसाय आदि के उत्पादन में अभी सरकारी उद्योगों का हिस्सा केवल ११ प्रतिशत है, दूसरी योजना में इसे बढ़ाकर कम से कम कुल उद्योगों का आधा हिस्सा लेने का लक्ष्य रखना चाहिये। 'राष्ट्रीय विकास परिषद' में २० जनवरी १९५६ को नेहरू जी ने अपने भाषण में कहा है;

"द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के बारे में योजना-आयोग के द्वारा दिये गये मसविदे में इस दृष्टि से कुछ संशोधन किये जाँयेंगे, जिससे कि समाजवादी उद्देश्य तथा तरीके और अधिक स्पष्ट हो जाँय।"

समाजवादी मूल्यों के प्रति जन-चेतना का रूप ही भावी 'शान्तिमय समाजवाद, को स्थिर करेगा, इसलिये अपने उत्तरदायित्व की कसौटी पर हमें राष्ट्रीय योजना के आकार, वृद्धि, रूप और विकास को जाँचना चाहिये।

'शांतमय समाजवाद' की सैद्धांतिक समस्यायें

"हम लोग मार्क्स के सिद्धान्त को अन्तिम, अकाट्य तथा वेदवाक्य नहीं मानते; हमारी यह धारणा पक्की है कि इसने केवल एक ऐसे विज्ञान का ढाँचा तैयार किया है जिसे समाजवादियों को सभी दिशाओं में बढ़ाना चाहिये, अगर वे समय से पीछे नहीं रहना चाहते। हमारा यह दृढ़ मत है कि रूसी समाजवादियों के लिये मार्क्स के सिद्धान्त की स्वतन्त्र व्याख्या अनिवार्य है, क्योंकि इस सिद्धान्त से केवल सामान्य पथ-प्रदर्शक दृष्टिकोण निर्धारित होते हैं जिनका प्रयोग ब्रिटेन से फ्रांस में; फ्रांस से जर्मनी में और जर्मनी से रूस में बिलकुल ही अलग होगा।"

—लेनिन

पिछले अध्यायों में जिन समाजवादी तत्त्वों तथा ऐतिहासिक तथ्यों की चर्चा की गई है, वे स्वयं काफी हैं इस प्रायोगिक सत्य को स्थिर करने के लिये कि भारत की सामाजिक रचना समाजवाद की ओर उन्मुख है। किसी भी सामाजिक प्रक्रिया की अवस्थायें होती हैं, लेकिन हमें यह जानकारी कि कोई समाज किन लक्ष्यों की ओर गति-शील है, उस समाज की प्रगति की दिशाओं से हो सकती है। उत्तर-स्वाधीनता युग का इतिहास समाजवादी सफलताओं से भरा पड़ा है, लेकिन फिर भी लोगों की भारत के समाजवादी इरादों पर ही क्यों शङ्काये उठती है? इस कारण के दो पहलू हैं। पहला तो व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) है अर्थात् आलोचक अपनी प्राचीन समाजवादी मान्यताओं से भारतीय

समाजवाद के नवीन प्रयोग का मूल्याङ्कन करते हैं, यह बुनियादी तौर पर गलत चीज है। यदि हम रूसी और चीनी जनक्रान्तियों की गतिहीन बुद्धि से तुलना करें, तो दोनों में बहुत से अन्तर दीखेगें। ऐसा प्रतीत होगा, कि पूँजीपति 'वर्ग को भी प्रगतिशील तथा क्रान्ति का सहयोगी, मानकर माओ ने समाजवाद के पूरे मार्क्सवादी आधार को ही समाप्त कर दिया है। भला पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में पूँजीपति क्योंकर सहयोग करेगा? जिस प्रकार 'नई लोकशाही' चीन के लिये एक नया प्रयोग है, उसी प्रकार 'शान्तिमय समाजवाद' भारत के लिये भी एक नया प्रयोग है, उसके अध्ययन की प्रणाली मार्क्सवादी होनी चाहिये और जिसका उदाहरण मार्शल बुलगानिन, क्रुश्चैव, टीटो, श्रीमती सनयातसेन आदि ने रखा है।

दूसरा पहलू है वस्तुनिष्ठ (Objective) अर्थात् भारत के शान्तिमय समाजवाद के सन्मुख कुछ नई समस्यायें हैं, जो पूर्व समाजवादी व्यवस्था के सन्मुख नहीं थीं और उन समस्याओं को सुलझाने का देशी तरीका भी दूसरा है। समाजवाद के नये प्रयोग में कुछ नये प्रश्नों का आना पूरी तौर पर स्वाभाविक है। साथ ही पण्डित नेहरू के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में 'एटमी युग' उपस्थित है और इसलिये नयी व्यवस्था को उसके भीतर अनुकूलता प्राप्त करनी होगी। इस बात को अस्वीकार करना कि हमारे सन्मुख कोई समस्यायें है ही नहीं और हम बे-रोक-टोक शान्तिमय समाजवाद की ओर बढ़ते जा रहे हैं—एक महान मूर्खता होगी। इस अध्याय में प्रयास यह किया गया है कि उन दिक्कतों को सामने लाया जाय, जिन्हें समाजवादी भारत को हल करना है।

शान्तिमय तरीका

भारतीय समाजवाद की मौलिकता साधन में है और वह है

शान्तिमय तरीके से समाज-रचना को परिवर्त्तित करना। यही बुनियादी विशेषता समाजवाद की सबसे बड़ी समस्या भी है। यह बात नहीं है कि इस समस्या का कोई हल नहीं। शान्तिमय साधनों की भारतीय इतिहास में शानदार जीत हुई है। स्वयं आजादी की प्राप्ति इसका जीवित उदाहरण है। भारत में राज्यों का विलयन बिना किसी जोर दबाव के, बिना एक बूँद रक्त के एक गौरवपूर्ण घटना है—एक महान क्रान्ति है। शान्तिमय तरीका निश्चय ही सफल होता है, इतिहास इसका प्रमाण है। फिर मैं यह क्यों कहता हूँ कि यह एक समस्या है। पहली बात तो यह कि जिन आँखों ने खूनी क्रान्तियाँ देखी हैं, जिनके सामने अतीत की वीरता का मूल्य मानव रक्त में सना है, उनके लिये, शान्तिमय ढंग से चाहे पूर्ण समाजवाद ही क्यों न आ जाय, यह कोई नई क्रान्ति, कोई नया परिवर्त्तन न होगा। अब यदि केवल इन लोगों को विश्वास दिलाने के लिये ही कुछ नर-हत्या के दृश्य उपस्थित किये जाँय, तो कितना अवैज्ञानिक कार्य होगा। दूसरी बात यह है कि शान्तिमय तरीके से जो चीजें की जायगीं, उनमें तथा बलपूर्वक किये जानेवाले कार्यों में—उनके ढंग में तथा उनकी अवस्थाओं में कुछ अन्तर होना निश्चित ही है। हमें उन अन्तरों को समझना चाहिये।

उदाहरण के लिये जमीन्दारी-उन्मूलन को ही ले लीजिये। क्या यह समानता की ओर कोई परिवर्त्तन नहीं था ? अवश्य था, लेकिन इसको कार्यान्वित करने के पूर्व, इसके लिये न्याय में भी मूल्य स्थापित करना पड़ा। न्यायालयों के विचार अनुकूल हुये, तथा भूमि-क्रान्ति के प्रयासों से उसके लिये लोग मानसिक रूप से तैयार हो गये। इस कार्य में, सम्भव है लोगों को विलम्ब प्रतीत होता हो, लेकिन क्या इस तथ्य को भी अस्वीकार किया जा सकता है कि जमीन्दारी-उन्मूलन हुआ ही नहीं। नेहरू जी ने तरीके के बारे में स्पष्ट कहा है, "....कांग्रेस

पर इस प्रतिज्ञा (समाजवाद) को पूरा करने की जिम्मेदारी है, जिसे हमने पूरे माने में ओढ़ा है। हम ऐसा अवश्य करेंगे—अपने तरीके से करेंगे और हमारा तरीका शान्तिपूर्ण तरीका है, सहयोग का तरीका है और एक ऐसा तरीका है, सारी जनता को, उन लोगों को भी, जो शुरू में शुबहा रखनेवाले और अक्सर हमारे विरोधी होते हैं, साथ ले चलने की कोशिश का तरीका है।"

लोकशाही का मार्ग

भारत की लोकशाही और उसके शान्तिमय समाजवाद का समन्वय मानव-इतिहास की एक अद्वितीय घटना है। नेहरू जी ने चीन से लौट आने के बाद कहा था कि चीन में विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं है। वहाँ के प्रेस केवल एक ही प्रकार के समाचार छापते हैं। उन्होंने यह भी कहा था इसका मतलब यह नहीं कि मैं उनकी आलोचना करता हूँ। चीन को गम्भीर संघर्ष से गुजरना पड़ा है और इसलिये उनके विकास के तरीकों से हमारी सहानुभूति है। भारत में प्रेस, पार्टी तथा व्यक्तियों को पूर्ण स्वाधीनता है कि वे सरकारी योजनाओं की तीव्र से तीव्र, कटु-से-कटु आलोचना करें। भारतीय राज्य विरोध को भी प्रश्रय देता है और उसका आधार है लोकशाही का सन्तुलन। यहाँ पर शान्तिमय ढङ्ग से कोई भी पार्टी, व्यक्ति या समुदाय अपने सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक विचारों को व्यक्त कर सकता है, और जनता की सहानुभूति प्राप्त कर सकता है। सरकार कोई योजना—कोई कार्य करती है तो उसकी अनर्गल, तथ्य हीन, अमानवीय और पक्षपात पूर्ण आलोचनायें भी होती हैं, लेकिन लोकशाही के नाते उन्हें भी सहन करना पड़ता है। उदाहरण के लिये 'प्रयाग के कुम्भ मेले की घटना' को ही ले लीलिये। एक हिन्दू महासभा के पत्र ने उस घटने की तुलना रोम के सम्राट से की जो रोम के जलने के समय

सङ्गीत में मस्त था। सरकारी अधिकारियों और उनकी 'पार्टी' के बारे में जो सत्य है वह जनता के सन्मुख आ गया है, इस लिये उस पर मैं विचार नहीं करना चाहता। नागा लोग इस घटना के लिये आंशिक रूप से तो जिम्मेदार थे ही, यदि सरकार नागाओं के उपर प्रतिबन्ध लगाती तो ये ही जनसंघी, महासभाई और रामराज्यपरिषदवाले यह नारा लगाते कि सरकार धर्म में हस्तक्षेप कर रही है।' और इसका दूसरा पहलू भी है। कुम्भ का मेला तो एक शुद्ध जनता का कार्य था, जो पार्टियाँ चुनाव के समय जनता की सेवा का दम्भ भरती हैं, उन्होंने इस मेले में प्रबन्ध के लिये अपने स्वयंसेवकों के जत्थे क्यों नहीं भेजे? कुम्भ में जो सरकारी प्रबन्ध किया गया था, उसकी विरोधियों ने भी प्रशंसा की, किन्तु इन अन्धे आलोचकों को क्या कहा जाय?

लोकशाही के मार्ग में सभी प्रकार की आलोचनायें होती हैं और उन्हें सरकार रोकने का ध्येय भी नहीं रखती, जब तक कि उनका रूप शान्तिमय हो। सरकारी 'रचनात्मक योजनाओं' की आलोचना भी आलोचनात्मक क्षमता के प्रदर्शन के लिये होती है, अपने अस्तित्व को बचाने तथा बढ़ाने के लिये होती है। थोड़ी सी घटना को तिल से ताड़ बनाया जाता है और ये कार्य शान्तिमय समाजवाद में बाधायें उपस्थित करते हैं, लेकिन फिर भी उसके नायक नेहरू का यह दृढ़ मत है;

"अपने सिद्धान्त और लक्ष्य पर दृढ़ रहने के साथ ही उन लोगों के साथ भी मैत्री-भाव रखना, जो हमसे मतभेद रखते हैं और जिनके हित हमारे मकसद से मेल नहीं खाते, हमारा ढङ्ग है जिसकी शिक्षा हमें गांधी जी ने दी है। यह भारत की प्रतिभा के अनुकूल ही है।" ("समाजवादी व्यवस्था की ओर" नेहरू पृ० ३६)

व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्याय का सन्तुलन

नेहरू जी के वक्तव्यों को यदि ध्यानपूर्वक सुनाजाय तथा उनकी

गहराई में जाकर विचार किया जाय, तो शान्तिमय समाजवाद की समस्याओं तथा उनके हल करने के गांधीवादी तरीकों का स्पष्ट संकेत मिलता है। किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्याय की मान्यताओं में सन्तुलन का होना आवश्यक है। लोकशाही के इन तीनों पहलुओं में न्याय की प्रधानता समाज के सभी अङ्गों के लिये स्वाभाविक है। वस्तुतः न्याय की प्रतिष्ठा से ही किसी राष्ट्र के लोकशाही के स्तर की अवस्था बतलाई जा सकती है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। जायदाद पर कब्जा करने के लिये मुआवज़ा देना चाहिये या नहीं देना चाहिये। नेहरू जी ने स्वयं इस प्रश्न पर अपना विचार उपस्थित किया हैं तथा अपने विचारों के कार्यान्वय में दिक्कतों का उल्लेख भी उन्होंने किया है।

"क्या हम मुआवजा देकर या बगैर मुआवजा दिये जायदाद को अपने कब्जे में, अपने हवाले करना चाहते हैं? आमतौर पर, अगर हम कब्जा करने के हक में हैं, तो हम उसके नतीज़े को भी पहले से सोच लेते हैं, झगड़ेवाला नतीजा, बहुत ज्यादा लोगों को तकलीफ में डालनेवाला। पर जहाँ तक हमारे संविधान का सम्बन्ध है, इस बात का सवाल ही नहीं उठाया जा सकता। लेकिन सम्विधान के अलावा, हमारी आमनीति भी इसके खिलाफ रही है। आपको मालुम है कि कल ही मैंने संविधान में संशोधन करनेवाला बिल पेश किया है।"

और यह संशोधन क्यों आवश्यक हो गया, नेहरू जी के ही शब्दों में देखिये।

"इसका मतलब यह नहीं कि हम मुआवजा नहीं देंगे, इन सब बातों की जरूरत अदालतों, सुप्रीमकोर्ट और हाई कोर्ट के उन फैसलों से हुई, जिन्होंने हमें यह कदम उठाने के लिये मजबूर कर दिया। अगर आप सम्विधान सभा में दिये गये भाषणों को पढ़ें, तो आप देखेंगे कि उस मौके पर मैंने अपने विचारों को साफ-साफ जाहिर किया है।

सुप्रीम कोर्ट का उन विचारों से बिलकुल मतभेद है और इसलिये हमें उनकी ही व्याख्या स्वीकार करनी पडी। लिहाज़ा, अब सम्विधान में संशोधन करना ही सिर्फ एक रास्ता है। इसके अलावा और कोई चारा नहीं।"

शान्तिमय समाजवाद के कर्णाधार नेहरू के इन शब्दों में न्यायलयों के निर्णय के प्रति उसकी विवशता छिपी है और न्याय के नये मूल्य को स्थापित करने के लिये वे सम्विधान का दरवाजा खटखटाते हैं। शान्तिमय समाजवाद के लिये यह एक वैधानिक समस्या है।

सम्पति पर राज्य का अधिकार

पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर स्वामित्व अधिकांशतः वैयक्तिक होता है, इसे समाजवादी समाज में सामाजिक स्वामित्व में बदलने का कार्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। ऐंजिल्स ने लिखा है कि सम्पूर्ण समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य का पहला कार्य सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करना है और अपनी प्रकृति के अनुकूल राज्य का यह अन्तिम कार्य होगा। जहाँ पर हिंसक क्रान्तियाँ हुई हैं, वहाँ तो सम्पत्ति पर राज्य ने बल पूर्वक अधिकार कर लिया, लेकिन शान्तिमय समाजवाद में बल-प्रयोग सम्भव नहीं। रूस और चीन में ऐसा ही हुआ; अब प्रश्न यह उठता है कि यदि शान्तिमय समाजवाद इस कार्य को नहीं करता तो उसके समाजवाद होने का कोई अर्थ नहीं और यदि करने का उद्देश्य रखता है, तो क्या यह सम्भव है कि लोग शान्तिमय ढङ्ग से ऐसी सम्पत्ति से अपना स्वामित्व छोड़ देगें, जिसे शताब्दियों से वे अपना समझते रहे हैं।

प्रश्न टेढ़ा है, लेकिन उत्तर है 'हाँ, लोग छोड़ देगें।' क्या देशी रियासतों का विलयन, जमीन्दारी उन्मूलन आदि इतिहास की घटनायें नहीं है ? विनोबा भावे को जो अपार भूमि दान में मिली है क्या वह

इस तथ्य की ओर संकेत नहीं करती ? कम से कम भारत के लिये तो यह सम्भव है। शान्तिमय ढङ्ग से जायदाद को अपने कब्जे में करने के लिये मुआवजा का सवाल उठता है। नेहरू जी का कहना है कि 'यदि हम मौजूदा संस्थाओं और उद्योग वगैरह का राष्ट्रीयकरण मुआवजा देकर शुरू करते हैं तो मुझे पूरा यकीन है कि हम आगे बढ़ने की अपनी सामर्थ्य घटा लेते हैं। मुआवजे के प्रश्न को ही हल करने के लिये नेहरू जी को संविधान में संशोधन करने के लिये प्रस्ताव लाना पड़ा। मुआवजे देने के सवाल को नेहरू जी नेकी का नहीं, बल्कि अमली मानते हैं। विदेशी पूँजी और विनियोग पर कब्जे की बात सहज में ही कर दिया जाता है। पूँजी पर बलपूर्वक अधिकार करने की बात लोगों को क्रान्तिकारी इसलिये दीखती है कि शक्ति के प्रयोग के अलावा वे दूसरा कोई चारा नहीं देख पाते। आश्चर्य तो यह है कि जब रूसी क्रान्ति के नेताओं ने भी अक्टूबर क्रान्ति के बाद सिद्धान्त में यह स्वीकार किया कि विदेशी जायदाद का मुआवजा दिया जाय, तो भारत के तथाकथित क्रान्तिकारी इस मान्यता की सीमा का भी क्यों अतिक्रमण करना चाहते हैं। जायदाद पर सामाजिक स्वामित्व समाजवाद के लिये एक बुनियादी जरूरत है किन्तु शान्तिमय ढङ्ग से सुलझाना लोगों को जितना कठिन लगता है, उतना ही सरल है।

उदाहरण के लिये देशी नरेशों का सवाल देखिये। उनकी रियासतों का भारतीय संघ में विलयन कर लिया गया तथा उन्हें निर्वाह के लिये सालाना कुछ रुपया देने का निश्चय हुआ। इसकी आलोचना करना तो बहुत सरल है कि नरेशों को इतना अधिक रुपया क्यों दिया जाय, लेकिन क्या इस पर सोचा जाता है कि बिना एक बूँद रक्त के इतने नरेशों का भारतीय संघ में विलयन समता की ओर एक महान कदम है। फिर भी नेहरू जी, देखिये, स्वयं क्या सोचते हैं;

"हम करीब पाँच करोड़ रुपया सालाना, मुझे पूरी तरह याद नहीं,

राजाओं को देते हैं। मुझे यह देखकर दुख होता है कि ३०० या ४०० आदमियों को इतनी बड़ी रकम हमें देनी पड़ती है।"

समय-समय पर नेहरू जी नरेशों से स्वेच्छापूर्वक इसमें कटौती की अपील भी करते हैं और नरेशों पर उसकी प्रतिक्रियायें भी होती हैं। बलपूर्वक स्वामित्व लेने का सिद्धान्त, चाहे देशी या विदेशी सम्पत्ति हो, शान्तिमय समाजवाद के लिये मान्य नहीं है, लेकिन फिर भी उसमें आत्म-विश्वास है, नैतिक बल है—सम्पत्ति को राज्य का बना लेने का और इस महान क्रान्तिकारी कार्य को वह कई अवस्थाओं में पूरा करेगा। यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है। रूसी क्रान्ति के बाद भी बलपूर्वक जायदाद हथियाने का सिद्धान्त गलत माना गया और राज्य-संस्थापनाओं में या सामुहिक कृषि या सामुहिक-उद्योगों में आकर्षण के द्वारा व्यक्तिगत पूँजी के विलय करने के सिद्धान्त पर अमल किया गया। यही कारण है कि व्यक्तिगत पूँजी के अवशेष सोवियत क्रान्ति के इतने वर्षों बाद आज भी रूसी समाज-व्यवस्था में कायम हैं।

आलोचकों के लिये एक बात और अड़चन की है। वे अपनी आलोचना को व्यवहार (Practice) से बहुत दूर रखते हैं। व्यवहार के क्रान्तिकारी दर्शन की व्यवस्था माओ ने अपनी पुस्तिका "On Practice" में बड़े ही वैज्ञानिक ढङ्ग से की है। भारत के नामधारी कम्यूनिष्ट आलोचकों को इस पुस्तिका का शास्त्रीय अध्ययन निहायत मुफीद होगा। व्यवहारिकता न होने के कारण जनता से ये बहुत दूर हैं। 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो' के रटे रटाये नारों का अर्थ भारतीय जनता के लिये बोधगम्य नहीं, प्रश्न तो भारतीय समस्याओं को भारतीय ढंग से हल करने का है। क्रान्ति के पहले और क्रान्ति के बाद राज्य के व्यवहारिक कार्यों में सोवियत नेताओं को भी बहुत सी मान्यताओं को रूपान्तरित करना पड़ा है। आलोचना की सार्थकता तभी है जब

आलोचक आलोच्य की व्यवहारिक परिस्थितियों की मर्यादा का उलंघन न करे। आलोचक यदि आलोच्य की परिस्थितियों में अपने को रखकर सोचे तो आलोचक व्यवहारिक आलोचक तो होगा ही; साथ ही उसे खुद भी कर्मठ बनाना पड़ेगा।

संघात्मक संगठन

भारत और चीन के उदित समाजवाद में एक और अन्तर है, जो भारतीय समाजवाद के सन्मुख एक समस्या के रूप में है। नेहरू जी ने इस समस्या पर विचार करते हुये लिखा है;

"चीन जैसे देश की मिसाल ले लीजिये, जिसमें बँधी-कसी अर्थ-व्यवस्था वगैरह है। हालाँकि, इसमें कोई शक नहीं कि उनकी बँधी-कसी अर्थ-व्यवस्था है और वह देश भारत से बड़ा है, पर वह बेहद केन्द्रीकृत देश भी है। हमारा एक फेडरेशन या संघ है जिसमें राज्य वगैरह हैं और हमारी सरकार का रूप लोकशाही है। नया चीन बहुत ही ज्यादा केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था का देश है जहाँ की सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में इकट्ठी है।"

भारत वर्ष में लोगों में विविधता है। कई भाषायें हैं तथा राज्यों के सङ्गठन को भाषा के आधार पर बनाने की माँग है। कभी नागा तो कभी सिक्ख स्वतन्त्र राज्यों की कल्पनायें होती हैं। पाकिस्तान भारत की साम्प्रदायिक विषमता का जीवित उदाहरण है। लोग विशाल आन्ध्र तथा विशाल महाराष्ट्र के लिये जनमत को भड़काते रहते हैं। ये समस्यायें भी भारतीय समाजवाद के सन्मुख प्रस्तुत हैं और इनका हल अभी भी भविष्य के गर्त्त में है। केन्द्रीय सरकार को संघात्मक संठघन के कारण राज्यों की सरकार की नीतियों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। जहाँ पर सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में केन्द्रित हो, किसी योजना को कार्यान्वित करने में समय की बचत और अन्य

सुविधायें होती हैं, परन्तु भारत की सरकार राज्यों के विचार पर भी शान्तिमय हल चाहती है।

लोकशाही में भ्रष्टाचार

स्वतन्त्र भारत के सामने द्वितीय विश्व-महायुद्ध के परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार की अनैतिकता भी एक विकराल समस्या के रूप में है। कड़े और अधिनायकशाही सरकार का अर्थ भ्रष्टाचारियों को प्राड-दंड है। इसे सभी लोग जानते हैं कि रूसी या चीनी समाजवाद में समाजवादी योजना के किसी भी रूप में विरोध का अर्थ मृत्यु है। भारतीय सरकार ने इस प्रश्न को हल करने के लिये जितने मार्गों का अनुकरण किया है, वे यथेष्ठ नहीं हैं। यह एक ऐसा सवाल है, जिसे शान्तिमय साधनों से हल करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मार्क्सवादी दर्शन में तो शोषित निर्दोष है—वह परिस्थितिवश ही चोरी, पाकेटमारी तथा घूँसखोरी करता है। लेकिन साथ ही शोषक वर्ग के भ्रष्टाचार भी हैं जैसे काला-बाजार। समाज में जितनी ऐसी प्रवृतियाँ मौजूद हैं, जो नये समाजवादी मूल्यों के विकास में बाधा उपस्थित करती हैं, उनका उन्मूलन करना ही होगा। इसके लिये 'कैदी शिक्षण शिविर' आदि मनोवैज्ञानिक चेष्टायें भी प्रशंसनीय हैं, साथ ही भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिये कड़े अनुशासन-व्यवस्था की आवश्यकता है। इस प्रश्न का एक और पहलू है और वह है भावी समाज को प्रारम्भ से ही ऐसी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पहलुओं में रखा जाय कि ये समस्यायें स्वयं विलीन हो जाँय।

शान्तिमय समाजवाद में अनुशासन

यह एक विकट समस्या है। कुछ लोग सोचते हैं कि लोकशाही और प्रजातन्त्र मेंअनुशासन का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। अनुशासन

का सम्बन्ध भ्रष्टाचार को रोकने; प्रेस, व्यक्ति तथा पार्टियों के विचार को प्रकट करने के ढङ्ग को नियन्त्रित करने तथा कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमाओं को बाँधने से है। शान्तिमय समाजवाद में अनुशासन एक सार्वभौमिक प्रश्न है और इस पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाना चाहिये। यह तो सही है कि कर्त्तव्यों का दर्शन ही अनुशासन का स्वाभाविक विकास कर सकता है। यदि सभी लोगों में कर्त्तव्य-चेतना आ जाय, तो अनुशासन की समस्या ही नहीं रह जाती और कर्त्तव्य के प्रति चेतना लाने के लिये कर्त्तव्यों के मूल्य के प्रति आस्था होनी चाहिये। इसलिये सैद्धान्तिक व्याकुलता स्वभाविक है—हमें यह तो निर्धारित कर ही लेना है कि भारत में जो सामाजिक रचना बनने जा रही है, उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है? उसका मूल्याङ्कन हमें कैसे करना है; और अपनी समझ, अपने मूल्याङ्कन तथा अपने दृष्टिकोण के अनुकूल हमें अपने कर्त्तव्यों के रूप को भी निर्धारित करना होगा जिससे हम भावी समाज-रचना की जिम्मेदारियों को सम्भाल सकें।

समय की कसौटी पर

शान्तिमय तरीकों से समाजवाद को स्थापित करने में एक आशंका यह भी व्यक्त की जाती है कि समय के ध्यान से यह बहुत ही लम्बी अवधि है और इस कारण कार्य-संलग्नता में उत्तेजना नहीं होती। समाजवाद की स्थापना के पूर्व यह भी आलोचना होती थी कि जब प्रत्येक व्यक्ति को 'आवश्यकता के अनुकूल भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और दवा आदि साधन, जीवित रहने के लिये मिल जाँयगे, तो वह अकर्मण्य हो जायगा, कार्य करने के लिये उसे कोई आकर्षण नहीं रहेगा। यह तर्क अभी तक के प्रतिक्रियावादी दर्शन का प्रतीक है, जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति कार्य इसलिये करता है कि उसे बलपूर्वक करना पड़ता है या उससे कराया जाता है, चाहे यह बल-प्रयोग शक्ति के रूप में

हो या प्रलोभन के रूप में; या अन्य कोई वाह्य उत्तेजना हो। मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों में इस दर्शन का विश्वास नहीं है। ऐसा भी तो हो सकता है कि मनुष्य में अपने आर्थिक, समाजिक तथा राजनीतिक उत्तर दायित्व की ओर इतनी जागरूकता हो कि बिना कर्त्तव्य-पूर्त्ति के उसकी आन्तरिक मान्यतायें विकल रहें। हम क्यों भूल जाते हैं कि मानवजीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है और सबसे उच्च कोटि के आनन्द का उपभोग मनुष्य उसी समय करता है, जब वह अपने कर्त्तव्यों की व्याख्या से सन्तोषजनक श्रम कर लेता है। मानव-प्रकृति की इस सृजनात्मक क्षमता पर यदि अविश्वास किया जाता है, तो निरे बल-प्रयोग के आधार पर किसी भी कल्याणकारी समाज की कल्पना करना मूर्खता ही नहीं, मूर्खता को भी धोखा देना है। मनुष्य स्वयं एक महान शक्ति है और आन्तरिक प्रेरणायें तथा उसकी भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकतायें उसे कर्त्तव्यमय परिश्रम के लिये विवश ही नहीं, व्याकुल और बेचैन भी कर देती हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या हम किसी ऐसे कार्य की भी कल्पना कर सकते हैं, जो समय के बन्धन से परे हो। सम्भव है, विज्ञान युग के पहले जादूगर तथा धर्म के चमत्कार करने वालों के द्वारा एक क्षण में सातों लोक की सृष्टि की सम्भावना पर लोग विश्वास करते हों, किन्तु आज का वैज्ञानिक युग समय की परिधि को स्वीकार करता है। किसी भी सामाजिक परिवर्त्तन में समय को संकुचित किया जा सकता है, समय की लम्बाई घटायी जा सकती है, लेकिन समय की दशा (Factor) को सर्वथा हटाया नहीं जा सकता। रूसी समाज में ही परिवर्त्तन की प्रणाली को ले लीजिये। अक्टूबर क्रान्ति के दसों साल बाद तक सोवियत समाज की आर्थिक उत्पादक क्षमता जारशाही के युग की उत्पादक शक्तियों के स्तर पर भी नहीं पहुँच सकी। इतने वर्षों बाद अब सोवियत नेता यह सोचते हैं कि उन्हें अपनी समाजवादी

व्यवस्था को साम्यवादी व्यवस्था में बदलने का समय आया है और इस प्रक्रिया में भी काफी समय लगेगा। माओ तो अपने देश में समाजवादी क्रान्ति के लिये भी तैयार नहीं है, उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है कि समाजवादी व्यवस्था के लिये उन्हें बीस साल तक भगीरथ प्रयत्न करने पड़ेंगे। चालीस साल के बाद रूस के अर्थ तन्त्र से भारतीय सफलताओं की तुलना अन्याय ही नहीं अविवेकपूर्ण भी है। इस दृष्टि कोण के होते हुये भी यह स्पष्ट है कि शान्तिमय तथा लोकशाही के वैधानिक तरीकों में समय की आवश्यकता होती है, इस पर नेहरू जी की स्वीकारोक्ति स्पष्ट है;

"भारत जैसे देश में—पिछड़े हुए देश में, समाजवाद, समाज का सच्चा समाजवादी आधार रफ्ता-रफ्ता ही आ सकता है। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है। चीन की ही मिसाल लीजिये। वे अपनी अर्थ व्यवस्था बदलने के बहुत उत्सुक हैं और उनके सामने वे मुश्किले नहीं हैं जो कि हमारे सामने हैं—जैसे कि पार्लियामेन्टरी संस्थायें और बिलों का तीन बार पढ़ा जाना और सलेक्ट कमेटियाँ बिठाना, जो कि सब-की-सब बातें बहुत वक्त लेती हैं। अगर वे चाहें तो रातो-रात कानून जारी कर सकते हैं। तो भी, वे कहते रहते हैं कि उनकी अपनी तेज रफ्तार के बावजूद भी उन्हें अपने समाज की समाजवादी नींव डालने और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था कायम करने में बीस बरस लगेंगे।"

इस प्रकार भारत तथा चीन दोनों दो मार्गों से समाजवादी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं और यह भविष्य बतलायेगा कि समय के ख्याल से किसका मार्ग अधिक उपादेय था।

अन्तर्पार्टी जनतान्त्रिक केन्द्रण (Democratic Centralism)

शान्तिमय समाजवाद के सन्मुख एक महान जटिल समस्या यह है कि जो पार्टी शासन कर रही है, उसी के सदस्य भी कभी-कभी

सरकारी नीति का विरोध करते हैं। कम्यूनिस्ट पार्टियों का ढाँचा कुछ ऐसा होता है कि पार्टी-निर्णय लेने के बाद पार्टी का प्रत्येक सदस्य उसको मानने के लिये विवश होता है। निर्णय के पहले चाहे उस विषय पर कितना ही तर्क, विचार या विवाद हों, लेकिन बहुमत से निर्णय हो जाने पर अल्पमत को भी वह निर्णय, औपचारिक ढङ्ग से केवल स्वीकार ही नहीं करना पड़ता बल्कि आत्म-सात् कर जाना पड़ता है। यदि कोई सदस्य उसका विरोध करे, तो उसे पार्टी-अनुशासन के कड़े दंडों का भागी बनना पड़ेगा। इस प्रकार मार्क्सवादियों की पार्टी में बहुत से लाभ होते हैं, एक तो पार्टी के भीतर लौह-अनुशासन कायम रहता है, दूसरे पार्टी-निर्णयों में निष्ठा होने से राष्ट्रीय कार्यों की गति तेज होती है तथा तीसरे पार्टी के भीतर के अन्तर्विरोध जनता के सामने नहीं आते। जनता पार्टी को एक 'जीवित इकाई' (organic whole) के रूप में देखती है और इसलिये जनता का विश्वास सदा ही पार्टी-नीति में बना रहता है।

निश्चय ही कांग्रेस ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया है। कांग्रेस का साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में स्वार्थरहित तथा अनवरत योग रहा है। प्रश्न यहाँ यह है कि यदि पार्टी के सदस्यों को भी पार्टी-निर्णयों के विरोध करने की अनुमति रहती है, तो किसी भी निर्णय को कार्यान्वित करने के मार्ग में बड़ी दिक्कतें पैदा होती हैं। पार्टी-अनुशासन का चक्र कांग्रेस को कड़ा तथा विवेकमय बनाना ही होगा। पार्टी के सदस्य जनता के प्रतिनिधि भी होते हैं तथा साथ ही आदर्श भी। यदि पार्टी के सदस्यों के जीवन से पार्टी के आदर्शों की अभि-व्यक्ति नहीं होगी, तो जनता उन्हें कैसे ग्रहण कर सकती है। पार्टी के सदस्य तो ऐसे माध्यम हैं, जिनके द्वारा पार्टी अपने सन्देश को जनता तक पहुँचाती है। नेहरू जी इस तथ्य से परिचित हैं और इसीलिये पार्टी-शोधन के लिये अपील करते रहते हैं।

पार्टी का नव-जीवन

पार्टी को एक जीवित संस्था होनी चाहिये इसीलिये नेहरू जी बार-बार पार्टी के भीतर नये रक्त को मिश्रित करने पर जोर देते हैं। आश्चर्य यह है कि नेहरू जी के अपील पर अपील होते हुये भी कांग्रेस की रचना में नव-युवकों का प्रवेश व्यवहार में नहीं लाया जाता। नये रक्त के सम्मिश्रण बिना कांग्रेस एक जीवनहीन संस्था हो रही है, इसलिये इस दिशा में व्यापक बहुमुखी प्रयास होना चाहिये। आजादी के संघर्ष में भी नये रक्त ने महान योग दिया है। भविष्य का उत्तर-दायित्त्व नई पीढ़ी सँभालने योग्य हो सके, इसलिये आवश्यक है कि नयी पीढ़ी को शिक्षित किया जाय, उन्हें उत्तरदायित्त्व की कसौटी पर जाँचा जाय तथा उनमें लौह-अनुशासन के भीतर कार्य करने की क्रान्तिकारी क्षमता उत्पन्न की जाय।

जनता का अभियान

भारत में समाजवादी शक्तियाँ कई अवस्थाओं में हैं। कई वर्गों के साथ-साथ चलने के कारण संक्रमण-कालीन अवस्था में विचार तथा दृष्टिकोण की विभिन्नतायें भी स्वाभाविक ही हैं। शान्तिमय समाजवाद इन विभिन्नताओं को न तो उसकाता है और न ही उसकी आँखें इस तथ्य की ओर से बन्द रहती हैं। समाजवाद इन स्वार्थों का एक नई समाज-रचना में शान्तिमय विलयन चाहता है। इस बात का एक ओर तो अत्यधिक उज्ज्वल पक्ष है और दूसरी ओर समाजवाद के मार्ग को यह जटिल तथा कंटकमय भी बना देता है। बहुत समय से एक साथ काम करनेवाले, और वह भी संघर्ष के दौरान में होने के कारण, इन विभिन्न वर्गों में एक दूसरे को समझने की शक्ति भी है और साथ ही भावी समाज के निर्माण की

प्रतिज्ञा की मर्यादा भी है। समाजवाद की सफलता इन सभी शक्तियों के शान्तिमय उपयोग से एक शोषण-विहीन व्यवस्था कायम करने में है। नेहरू जी ने ठीक ही कहा है;

"भारत के हम साढ़े सैंतीस करोड़ लोग हमराही हैं। हम एक दूसरे को कुछ खींच सकते हैं, कुछ धकेल सकते हैं, लेकिन हमें एक साथ चलना है, किसी और तरीके से हम गुटबन्दी में फँस जायेंगे। आपको इतिहास के स्वरूप में भारत को देखना चाहिये और आगे बढ़ती हुई भारतीय जनता के इस बुलन्द दौर को समझना चाहिये। लाखों-करोड़ों लोगों का आजादी की ओर बढ़ना और फिर वहाँ से अगला कदम उठाना और लगातार अगली मंजिलों की ओर बढ़ते रहना एक बहुत बड़ी चीज है।"



नयी समाज-रचना के चिन्ह

"लेनिन ने कहा था कि चीनी जनता को भी अपना १९०५ मनाना पड़ेगा। कुछ कामरेड इसका यह अर्थ लगाते हैं कि चीन में बिलकुल सही-सही वही चीजें घटेंगी जो रूस में १९०५ में घटी थीं। यह बिल्कुल गलत है। लेनिन ने निश्चय ही यह नहीं कहा कि चीनी क्रान्ति १९०५ के रूसी क्रान्ति की प्रतिलिपि होगी। लेनिन ने तो यही कहा था कि चीनी जनता को 'अपना' १९०५ मनाना होगा। इसका अर्थ यह है कि समान गुणों के साथ ही चीनी क्रान्ति में स्वयं उसकी अपनी विशेषतायें होंगी, जिनकी छाप चीन की क्रान्ति पर सदा के लिये पड़ जायगी।"

—स्टालिन

इस अध्ययन के फलस्वरूप इस वैज्ञानिक निष्कर्ष की घोषणा अतिशयोक्तिपूर्ण होगी कि भारत में समाजवाद कायम है या भारत की वर्त्तमान समाज-रचना शत प्रतिशत समाजवादी है। लेकिन प्रश्न उठता है कि फिर 'भारत में शान्तिमय समाजवाद' का अभिप्राय क्या है? बात अक्षरशः सही है कि वर्त्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था पूर्ण समाजवादी नहीं है और न होना स्वाभाविक भी है। समाजवाद एक विशाल लक्ष्य है और उसके कार्यान्वय की बहुत सी अवस्थायें हैं। लक्ष्य की पूर्णता से ही हम किसी के मञ्जिल का अनुमान नहीं कर सकते, लक्ष्य की पूर्णता तो उस मंजिल की समाप्ति है; अन्तिम लक्ष्य का निर्धारण वर्त्तमान की जीवित दिशाओं से होता है। भारतीय

समाज में कुछ शक्तियाँ उदय हो रही हैं तथा विकासोन्मुख हैं और दूसरी शक्तियों का अस्त हो रहा है, वे पतनोन्मुख है; एक नैतिकता मर रही है और दूसरी नैतिकता जन्म ले रही है; एक व्यवस्था चरमरा रही है और दूसरी व्यवस्था के चिन्ह बनते जा रहे हैं; कुछ सामाजिक मूल्य समाप्त किये जा रहे हैं, और कुछ नये मूल्यों का स्वाभाविक विकास हो रहा है तथा कुछ सामाजिक मूल्य अपने को नवीन मूल्यों में विलीन कर रहे हैं। महान विचारक स्टालिन ने लिखा है कि भविष्य किसका है, हमसे वह कितना दूर है—इसका निर्णय हमारी वर्त्तमान शक्तियों के संतुलन से नहीं होगा; इसके लिये हमें यह देखना होगा कि कौन सी शक्तियाँ प्रगतिशील हैं, किन शक्तियों में गुणात्मक तथा संख्यात्मक विकास होता जा रहा है—निश्चय ही भविष्य उसी के हाथ में है; और कौन सी शक्तियाँ प्रतिक्रियावादी है, किन शक्तियों का संख्यात्मक और गुणात्मक पतन हो रहा है—निश्चय ही भविष्य में उन्हें समाप्त होना है, चाहे वे जड़ से हटायी जाँय या नई शक्तियों में शांतिमय तरीके से विलीन हो जाँय।

नये मानव-मूल्यों का उदय

भारतवर्ष में नये सामाजिक मूल्य जन्म ले रहे हैं तथा अनेक नये मूल्यों का तीव्र गति से विकास हो रहा है। प्राचीन मूल्यों में बहुत तो अस्त हो चुके हैं और बहुत धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर अग्रसर हैं। नये मूल्यों की आत्मा 'श्रम की प्रतिष्ठा' से अनुप्राणित है। राष्ट्रपिता बापू ने कम से कम एक ऐसी शिक्षा हमें दी है, जो हमारे नये समाजवादी मूल्यों की नींव है और वह है 'श्रम से घृणा' न करना—चाहे कोई भी कार्य हो, उसमें तल्लीन होकर कार्य तथा व्यक्ति में तन्मयता ला देना। प्राचीन सामन्ती समाज में 'श्रम की घृणा' को सामाजिक सन्मान प्राप्त था। यदि किसी भी व्यक्ति का परिचय 'जमीन्दार साहब के रूप

में दिया जाता था, तो सभी का मस्तक उनके प्रति आदर से झुक जाता था। कोई यह सवाल नहीं कर सकता था कि आखिर ये जमीन्दार साहब करते क्या हैं? जमीन्दार हैं—शान की बात है, रुपयों की कमी नहीं, बुरे हुये तो दिन शिकार, खेल तथा गप्पों में बीताते होंगे और रात कोठे पर। और यदि अच्छे हुये तो मन्दिरों में, भजन में या कीर्त्तन में समय काटते होंगे। लेकिन यह क्या अविवेक पूर्ण प्रश्न है कि जमीन्दार साहब करते क्या हैं? अगर वे कुछ करते ही, तो जमीन्दार साहब क्यों होते। राम, राम यह आपने क्या प्रश्न किया, 'न काम करना ही तो उनकी परम्परागत शान है।' बाप दादों का धन है, अगर ये काम करते तो कई पीढ़ियों को अपने साथ नरक घसीट लेते। दूसरा उदाहरण लीजिये। आप कहीं अपनी स्त्री के साथ बीस-पचीस साल पहले निमन्त्रण में, सिनेमा में या किसी अन्य सामाजिक अवसर में सम्मिलित होने जाते, तो पहले तो आपके मस्तिष्क में इसकी तैयारी के लिये काफी मानसिक द्वन्द्व होता और फिर अपनी बीवी से जाने को तैयार होने के लिये रस्साकशी होने लगती और माँ-बाप; राम, राम उनके सामने तो प्रस्ताव रखना अपने को मुसीबत में डालना था।

मान लीजिये किसी प्रकार यदि पहुँचते भी, तो बस पहुँचते ही चादरों से ढँकी आपकी बीवी घर में स्त्रियों के पास पहुँच जाती और यही कुछ मुन्ना-मुन्नी, सास-पतोहू या गहना-जेवर की बातें होतीं। अगर उस समय आपसे प्रश्न किया जाता कि भाई, आपकी बीवी करती क्या हैं? आप लाल हो जाते; आप भी समझते कि क्या बेवकूफी का सवाल है, इसको यह भी नहीं पता कि घर में स्त्रियाँ करती क्या हैं। अरे, जो तुम्हारे घर में, वही हमारे घर में—यही कि भोजन बनाना, खिलाना, घर की सफाई रखना और अगर बच्चे पैदा करने की जिम्मेदारी पूरी कर दी गई है, तो उनकी रखवाली करना। स्त्रियों का और दूसरा काम ही क्या हो सकता है? हमारे घर की सती-साध्वी स्त्रियाँ मेमों की

तरह चाकरी नहीं करती; मालुम होता है कि यह मेरा अपमान करना चाहता है। क्या मुझमें शक्ति नहीं, क्या मैं अपने बीबी-बच्चों को खिला नहीं सकता। इस सवाल से आपकी बहुत बड़ी बेइज्जती हो जाती।

इन दोनो उदाहरणों में मैंने पहले सामाजिक व्यवस्था के दो मानव-मूल्यों को चित्रित करने की कोशिश की है, लेकिन ध्यान से विचार करने पर, समाज की गतियों को देखने पर यह सत्य अब छिपाया नहीं जा सकता कि आज प्रत्येक व्यक्ति के सामने—चाहे स्त्री हो या पुरुष—भविष्य के लिये प्रश्न सूचक चिन्ह है। बिना किसी रचनात्मक कार्य के आज के समाज में व्यक्ति गौरव नहीं पा सकता। नये मूल्यों का उदाहरण लीजिये। पिता वाइस चान्सलर हैं और पति मैजिस्ट्रेट; फिर भी इतने धनी बाप की बेटी और इतने सुखी पति की पत्नी स्वयं भी बी. ए. की छात्रा है। सोच रही है कि बी. ए. के बाद ट्रेनिङ्ग करके कहीं अध्यापिका या इन्सपेक्ट्रेस आदि हो जायगी। परीक्षा में पास होने की उसे महान चिन्ता है, क्योंकि ट्रेनिङ्ग कालेज में प्रवेश के लिये कम-से-कम द्वितीय श्रेणी तो रहना ही चाहिये। जरा ध्यान तो दीजिये, यदि यह स्त्री कार्य न करे तो क्या यह भूखों मर जायगी। क्या इसके पति और पिता में इसे पालने का सामर्थ्य नहीं? आप उत्तर देंगे कि २००० रुपया पानेवाले पिता और ५०० रु० पाने वाले पति एक स्त्री का पालन अवश्य कर सकते हैं, अरे, एक स्त्री के खाने-पीने में क्या लगेगा, यही पचीस-तीस रुपये, अनाज और कुछ कपड़े आदि और फिर क्या गरीब लोगों की स्त्रियाँ नहीं जीती; उतना पैर पसारिये जितना चादर होय। लेकिन इस स्त्री को अपने भविष्य के प्रति विकलता क्यों? इसलिये कि भावी समाज के मूल्यों के अनुरूप उसे बनना है, सामाजिक जिम्मेदारी को वैज्ञानिक ढङ्ग से उसे सँभालना है। इस पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार करिये कि जब स्त्रियों के लिये काम करना नये समाज में—रुपये के लिये नहीं, उसके व्यक्तित्व के लिये अनि-

वार्य है, तो पुरुष के व्यक्तित्व की कल्पना क्या बिना श्रम के सम्भव हो सकती है ?

आज भीखमङ्गों को देखकर दया नहीं उत्पन्न होती, बल्कि हमारा ध्यान एक सामाजिक समस्या की ओर आकृष्ट हो जाता है। आज वेश्याओं को देखकर रास रङ्ग नहीं सूझता, बल्कि इस सामाजिक कोढ़ को दूर करने की मानसिक कृतसंकल्पता पैदा हो जाती है। विलास, भ्रष्टाचार तथा अनाचार को देखकर आज विवशता के भाव नहीं आते, बल्कि क्रोध तथा विरोध की ज्वाला जलने लगती है। गरीबी, भूखमरी तथा शोषण को सहन करने का जी नहीं करता, उन्हें समाज से उखाड़ फेकने पर हम तुले हुये हैं। चालीस-पचास साल के समय में इतना परिवर्त्तन क्यों ? इसलिये कि एक नये समाज की हमें रचना करनी है; और नये समाज के मूल्यों की ओर, उनकी मान्यताओं की ओर हम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से खींचते जा रहे हैं।

समानता की व्यवहारिक धारणा

साम्यवाद का अर्थ मनुष्यों को काँट छाँट कर बराबर कर देना नहीं है। भारतीय समाज में न तो इस प्रकार की समानता है और न तो ऐसी समानता को हम अपना व्यवहारिक लक्ष्य ही बना सकते है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक असमानता की दो गहरी जड़ें थीं, एक तो सामन्तवादी व्यवस्था में धँसी थी और दूसरी पूँजीवादी व्यवस्था में। राज्यों का विलयन सामन्तवादी असमानता को दूर करने की ओर एक महान कदम था। जमींन्दारी-उन्मूलन ने समानता के इस अभियान को और आगे बढ़ाया। निश्चय ही यह सही है कि हिमालय की उँचाई और बङ्गाल की खाड़ी की गहराई में बहुत असमानता है, लेकिन २९००० फीट ऊँचे हिमालय से यदि पाँच हजार फीट काटकर बङ्गाल की खाड़ी में डाल दी जाय, तो भी ऊँचाई की यह

असमानता दोहरी रफ्तार से दूर होने लगेगी; एक ओर हिमालय नीचा होता होगा और दूसरी ओर हिमालय के कटे हिस्से को पाकर बङ्गाल की खाड़ी की गहराई भी कम होती जायगी। समानता और असमानता का यह व्यवहारिक दर्शन है; सापेक्ष मूल्याङ्कन है; सम्भव सिद्धान्त है; जिसके बिना 'समानता' का सैद्धान्तिक अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

आर्थिक समानता की ओर हमारी प्रगति

समानता की जो प्रगति हमारे नये समाज में हुई है, वह केवल भावात्मक नहीं, बल्कि उसे हम ठोस रूपों में भी देख सकते हैं। पहले के अध्यायों में 'देशी रियासतों' के विलयन तथा 'जमीन्दारी-उन्मूलन' के क्रान्तिकारी महत्त्व पर विचार किया गया है। वे दोनों पग व्यवहारिकसमता की ओर महान प्रगति का आदर्श उपस्थित करते हैं। आचार्य विनोवा भावे ने अपनी भू-क्रान्ति में करीब ३ लाख लोगों से ३६,९९,३०० एकड़ जमीन प्राप्त की है, जो दुनियाँ के आदर्श समाजवादी समाज–रचना के प्रयोगों में बेजोड़ है। ग्राम-दान समाजवादी सामुहिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वस्तुतः आचार्य भावे ठीक ही कहते हैं, भारत में पारिवारिक संगठन की ओर संस्कृतिजन्य अभिरुचि है और समाजवादियों को केवल इतना कार्य करना है कि इस अभिरुचि को वे सम्पूर्ण समाज की ओर उन्मुख कर दें।

आर्थिक असमानता को दूर करने के लिये 'मृत्यु कर' भी एक ठोस तथा प्रगतिशील कदम है। मृत्युकर दो प्रकार के होते हैं। (१) भू-सम्पत्ति कर (२) मृत्यु कर। ये कर किसी भी नागरिक के मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाये जाते हैं। इस कर को देने का उत्तरदायित्व मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों का होता है। सार्वजनिक हित की दृष्टि से भू-सम्पत्ति कर अधिक सुविधा जनक तथा उत्पादक होता है, क्योंकि यह कर प्रत्यक्ष रूप से मृत व्यक्ति की सम्पत्ति

पर लगाया जाता है, और इसमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच उत्तराधिकार के अनुपात का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। समाजवाद का वास्तविक अर्थ तो ऐसी सम्पत्ति पर, जो उत्पादन में साधन हों, राज्य का अधिकार है। विशेष रूप से जब कोई व्यक्ति मरता है, तो पूँजीवादी स्वामित्व के नियमों के अनुकूल उसका धन उसके बेटों का हो जाता है। उत्तराधिकार का यह नियम वस्तुतः पूँजीपति वर्ग के स्वार्थ के लिये होता है, जिससे सम्पत्ति एक वर्ग के भीतर ही हस्तान्तरित होती रहे, यही कारण है कि विवाह के सम्बन्ध भी वर्ग-सीमा के बाहर अच्छे नहीं समझे जाते। समाजवादी धारणा के अनुकूल व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसके मृत्यु के बाद सबसे पहला अधिकार समाज या राज्य का होता है और इसलिये उसका उपयोग भी सामाजिक हित के लिये ही होना चाहिये। मृत्युकर मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति पर राज्य के अधिकार का फल है, लेकिन शुद्ध समाजवादी अवस्था की ओर यह केवल एक कदम है। मृत्यु कर से भी समाज में व्यवहारिक समानता की नींव पड़ती है तथा पूँजीवादी समाज के उत्तराधिकार नियम को शान्तिमय ढङ्ग से नये समाजिक मूल्यों में परिवर्त्तन किया जाता है। आर्थिक समता लाने के लिये वस्तुतः अधिक सम्पत्ति पर अधिक प्रतिशत कर लगाया जाना चाहिये तथा क्रमशः कम सम्पत्ति पर लगाये जानेवाले कर का भी प्रतिशत कम हो जाना चाहिये।

राजकीय बैंक का निर्माण

राष्ट्रीय-वित्तीय साधनों में इम्पीरियल बैंक का महत्वपूर्ण योग रहा है, परन्तु उसका कार्य-संचालन एवं शासन प्रायः व्यक्तिगत लाभ की भावना से ओतप्रोत था, फलस्वरूप राष्ट्र के आर्थिक हितों में बाधा पहुँचती थी। रिजर्व बैंक के बाद भारत के आर्थिक जीवन में इसी बैंक का स्थान था। इसकी शाखायें देश के कोने-कोने में स्थापित थीं।

सरकार ने वित्तीय साधनों के राष्ट्रीयकरण में सबसे पहले अपना ध्यान इसी ओर केन्द्रित किया और परिणाम स्वरूप इम्पीरियल बैंक के स्थान पर राजकीय बैंक (State Bank) की स्थापना की गई। समाजवादी समाज की आर्थिक रचना की ओर यह ठोस कदम था; और इस कदम को उठाने का कार्य सरकार ने तब किया, जब कि उसके अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गई।

बीमा का राष्ट्रीयकरण

सरकार भारतवर्ष में समाजवादी व्यवस्था की रचना के लिये कृतसंकल्प है। यह भी प्रकट है कि यह कार्य उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से ही सम्भव है। सार्वजनिक क्षेत्र में नये-नये उद्योग प्रारम्भ करके तथा निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास को सार्वजनिक हित की दृष्टि में नियंत्रित करके निजी क्षेत्र को शान्तिमय, क्रमिक तथा वैज्ञानिक ढङ्ग से सामाजिक क्षेत्र में मिला देना ही किसी भी आदर्श तथा व्यवहारिक समाजवाद का लक्ष्य हो सकता है। नेहरू जी ने राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष भाषण देते हुये ठीक ही कहा था, "हमलोग एक-एक पग बढ़ाते हैं और उन्हें दृढ़ तथा ठोस बनाते रहते हैं; साथ ही दूसरे नये पग की तैयारी भी करते रहते हैं।" 'बीमा उद्योग' का राष्ट्रीयकरण इस बात की ओर धनात्मक संकेत है कि भारत की वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था सारे उद्योगों को सामाजिक दायरे में लाने का निश्चत उद्देश्य रखती है, लेकिन वह परिवर्त्तन के 'ब्रह्म-सिद्धान्त' में विश्वास नहीं करती, वह इस बात को अच्छी प्रकार समझती है कि परिवर्त्तन तथा विकास की वैज्ञानिक अवस्थायें होती हैं, जिन्हें तय करना शान्तिमय समाजवाद का क्रिया-दर्शन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो परिवर्त्तन हम समाज में ले आना चाहते हैं, उसके लिये हम जनता को तैयार करें, वरना वह परिवर्त्तन स्वाभाविक न होकर, लादा हुआ

हो जायगा। सरकार बीमा के उद्योग का राष्ट्रीयकरण क्यों करती है— इसलिये कि श्री देशमुख के शब्दों में, "सारी जनता में पूरे के पूरे बीमा उद्योग के राष्ट्रीय करण की भीषण माँग है।"

विदेशों की तुलना में भारतीय बीमा कम्पनियाँ सरकारी जमानत-पत्रों में बहुत कम रुपया लगाती है। विदेशों में कम्पनियाँ अपने पूरे कोष का ६६.२% लगाती हैं, जब कि भारतीय कम्पनियाँ केवल ५४.६ प्रतिशत ही लगाती हैं। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि भारतीय कम्पनियाँ अपने कोष का राष्ट्रीय विकास-कार्य में समुचित ढङ्ग से उपयोग नहीं करतीं। इतना होते हुये भी वित्तमन्त्री ने यह आश्वासन दिया है कि सार्वजनिक क्षेत्र में बीमा कम्पनियों के लगे हुये कोष को यथावत रखा जायगा, केवल उनकी पूँजी का सदुपयोग निजी क्षेत्र के भीतर ही राष्ट्रीय औद्योगिक नीति तथा द्वितीय योजना की आवश्य-कताओं के अनुरूप करना ही सरकार का लक्ष्य है। वर्त्तमान बीमा कम्पनियों के कार्यशील व्यय, (जैसे कर्मचारियों आदि के वेतन) अनावश्यक रूप से बढ़ गये हैं, जिस पर नियंत्रण करने से ही मित-व्ययिता तथा कार्य-शक्ति की प्रगति सम्भव है। बीमा के राष्ट्रीयकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव साधारण जनता पर पड़ेगा। जनता बीमा को अधिक सुरक्षित तथा उपयुक्त समझेगी। बीमा का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की सुरक्षा तथा उसके निश्चित भविष्य से है। बीमा का राष्ट्रीयकरण वस्तुतः हमारे राष्ट्र के आर्थिक जीवन में तथा विशेष रूप से द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वित करने में अत्यधिक उपादेय सिद्ध होगा।

लोक-सेवा तथा बेरोजगारी

पहले ही इस दृष्टिकोण से विचार किया जा चुका है कि व्यवहारिक समता लाने के लिये जहाँ एक ओर हम आर्थिक ऊँचाई को समाप्त

करते हैं, दूसरी ओर हमें आर्थिक दृष्टि से निचले सतहों को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी पड़ेगी। एक स्थान से शोषण को समाप्त कर एक दूसरे शोषक वर्ग का जन्म देना समाजवाद का लक्ष्य नहीं, हमें तो आर्थिक साधनों के उपभोग को प्रत्येक नागरिक में विकेन्द्रित करना पड़ेगा। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के आँकड़ों में बेकारी के दूर करने का तथा लोक-सेवा पर किये गये व्यय का अनुमान समाजवादी लक्ष्य की ओर संकेत है।

विदेशी नीति और विश्व-शान्ति

भारत की वैदेशिक नीति का स्वरूप अब अन्तर्राष्ट्रीय संसार में निखर गया है। भारत दुनियाँ के सभी राष्ट्रों से मित्रता रखते हुये भी आक्रामक मित्रता से बहुत दूर है और इसीलिये वह अपने को तटस्थ समझता है और तटस्थ होते हुये भी विश्व में शान्ति तथा सुख स्थापित करने के लिये सबसे अधिक प्रयत्नशील है, यही उसकी सक्रियता का दर्शन है। भारत के तथाकथित प्रगतिशील लोग नेहरू की बाहरी नीति को तो ठीक बतलाते हैं, लेकिन गृह-नीति को प्रतिक्रियावादी कहते हैं। भारत, चीन और रूस की मित्रता ऐतिहासिक टक्कर का परिणाम नहीं है, बल्कि यह समाजवाद और विश्व-शान्ति के लिये उनके समान लक्ष्यों का परिचायक है। भारत की शान्ति-नीति से समाजवाद में जो नैतिक बल उत्पन्न हो रहा है, उसके विरोध का अर्थ जन-हितों को खुली चुनौती देना है और इसलिये समाजवाद का यह प्रयोग विरोध का विषय बन ही नहीं सकता। शान्तिमय साधनों से समाजवाद को स्थापित करने का भारतीय प्रयोग सारी दुनियाँ में समाजवादी कल्पना को साकार कर सकता है।

पूर्व-प्रदेश—एक महान आदर्श

भाषावर राज्यों के निर्माण का प्रश्न कुछ ही समय पहले राज-

नीतिक विघटनवादियों के कलुषित उद्देश्य के लिये साधन बन रहा था; बम्बई, बङ्गाल, उड़ीसा, बिहार—आदि में देशव्यापी हिंसक उपद्रव से राष्ट्रीय एकता को उलझाने की कोशिश की जा रही थी। इसी बीच में 'पूर्व-प्रदेश' के निर्माण का प्रस्ताव बिहार और बंगाल के मुख्यमन्त्रियों ने रखकर भारत की शान्ति-निष्ठा तथा समाजवादी सामुहिकता का अद्वितीय उदाहरण समाजवाद के इतिहास में उपस्थित किया है। उड़ीसा भी पूर्व-प्रवेश में सम्मिलित होने को तैयार है। इस कदम का स्वागत देश के कोने-कोने में हुआ है। पश्चिमप्रदेश, दक्षिण-प्रदेश तथा मध्यप्रदेश की भावना ने जन्म लेकर भारत की संघीय रचना को व्यवहारिक रूप दिया है। जनता एकता का विरोध कर ही नहीं सकती क्योंकि मनुष्य स्वभाव से सामुहिकता की ओर प्रवृत्ति रखता है और 'मानव-परिवार' की यह कल्पना समाजवाद का चरम लक्ष्य है। जब पूरे संसार को एक समाजवादी बन्धन में बँधना है, तो 'बिहार और बंगाल', 'गुजरात और महाराष्ट्र', 'केरल, मद्रास और कर्नाटक' भी समाजवादी भाई चारे से क्यों नहीं बँध सकते ? इस निश्चय का विरोध समाजवादी मान्यताओं के प्रति खुली चुनौती होगी और सम्भव है इस कसौटी पर अपने को 'प्रगतिशील, कम्यूनिस्ट तथा वामपन्थी' की झूठी संज्ञा देने वालों का चेहरा पहचानने का मौका जनता को एक बार फिर मिले।

शान्तिमय नेतृत्व का उदय

लोग नेतृत्व के केन्द्रीकरण को 'अधिनायकशाही तथा तानाशाही' कहकर मानव के स्वतन्त्र मूल्यों के विकास में उसे एक अभिशाप समझते हैं। सोवियत व्यवस्था के विरुद्ध कदाचित् सबसे बड़ा अभियोग अधिनायकशाही का ही है। एक दलीय शासन जनतन्त्र का विलोम समझा जाता है और यही कारण है कि भारत में 'पूँजीवाद

जनतन्त्र' का आदर्श रखनेवाली पार्टियाँ अपनी भीषण दुर्बलता पर आँसू बहाया करती हैं। सही है कि सच्चे तथा पूर्ण समाजवाद में सत्ता को विकेन्द्रित होना ही पड़ेगा। गांधी, मार्क्स दोनो इस लक्ष्य पर एकमत हैं। प्रश्न तो असली है—इस शोषणविहीन, और राज्य विहीन समाज की स्थापना कौन करेगा? स्वाभाविक विकास तो अराजकतावाद का असम्भव दर्शन है। यह कार्य उस पार्टी के सरकार के द्वारा सम्पन्न होगा, जो बहुसंख्यक जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। पार्टियाँ भिन्न-भिन्न वर्गों के स्वार्थ के लिये लड़ती हैं। समाजवादी व्यवस्था की ओर प्रगतिशील समाज में बहुमत के हितों का प्रतिनिधित्व एक ही पार्टी करती है और इसलिये जनता उसी का नेतृत्व स्वीकार करती है। बल-प्रयोग के द्वारा जहाँ सत्ता पर अधिकार प्राप्त की गई, वहाँ अन्य पार्टियों को भी बल-प्रयोग से शान्त किया गया है; लेकिन-शान्तिमय तरीके के भारतीय प्रयोग में सबसे बड़ी मनोरञ्जक विशेषता तो यह है कि सभी जनतांत्रिक सुविधा रहने के बावजूद भी अन्य पार्टियाँ नहीं पनप पा रही हैं और एक अकेले निर्विवाद नेतृत्व का उदय हो रहा है। इसे हम जनता का नेतृत्व कह सकते हैं जिसका सामुहिक प्रतीकीकरण नेहरू जी के व्यक्तित्व में है। सत्य का रास्ता यदि एक है तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इस समाजवादी प्रयोग के 'व्यवहार और आदर्श' के लिये अपनी चेतना को स्पष्ट तथा सन्तुलित कर लेना ही हमारा धर्म है, क्योंकि इससे हमारे उत्तरदायित्व की दिशायें निश्चित होंगी तथा उनकी ओर बढ़ने का महान बल भी हमें मिलेगा।



(लेखक की अन्य राजनीतिक पुस्तकें)

"गांधी और विश्व-शान्ति" (अंग्रेजी और हिन्दी)

गांधी-स्मारक निधि के तत्त्व-प्रचार-विभाग द्वारा पुरस्कृत निबंध; जिसमें युद्ध, शान्ति तथा गांधीवाद की व्याख्या से विश्व-शान्ति में गांधी के महान योग तथा उसकी सफलता का रहस्य है।

× × ×

"लेनिन की दृष्टि में गांधी"

भारत के घोर प्रतिक्रियावादी तथाकथित कम्यूनिस्टों ने गांधी के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का मूल्यांकन दर्पण में अपना मुख देखने के समान किया है, इसलिये लेनिन के विचारों में गाँधी का महत्त्व आँकना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। पुस्तिका इसी उद्देश्य का प्रतिफल है।

× × ×

"रूस चीन और भारत"

समाजवाद अब दुनियाँ के सामने एक अस्पष्ट धारणा नहीं है; भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुकूल उसके मूल्यांकन के तरीके तथा कार्य-दर्शन में भी रूपान्तरण हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक "रूस, चीन और भारत" की समाज-रचना की प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसे आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक तथा वित्तीय निष्कर्ष निकालने का प्रयास है जिनसे हमारे सन्मुख उनका सापेक्ष महत्त्व उपस्थित हो जाय। पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित होंगी।

हमारे उत्कृष्ट प्रकाशन

हिन्दी-साहित्य-दर्शन।

(लेखक—अरुण कुमार शर्मा, सम्पादक—श्रीकृष्ण दवे, एम० ए०)

हिन्दी साहित्य के इतिहास, काल विभाग, गद्य-पद्य की भाषा का प्रारम्भ यथाक्रम विकास, प्रमुख कवियों और लेखकों का परिचय करानेवाली एक उपयोगी पुस्तक है। [मूल्य डेढ़ रुपये

आदमी और भेड़िया—(ले०—मैक्सिम गोर्की) बर्बर शक्तियों द्वारा चोट खायी हुई मानवता को अपनी लेखनी से मरहमपट्टी करने वाले मनीषी मैक्सिम गोर्की ने अनुपम दिग्दर्शन कराया है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य किस प्रकार वहशी बन जाता है। अनुवादक : कामता प्रसाद श्री वास्तव। [मूल्य दो रुपया

बोतलानन्द—(ले०—श्री विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त) गुप्त जी की हँसोड़ प्रवृत्ति के अनुकूल हास्य उपन्यास। हँसते-हँसते आप लोट-पोट हुए बिना न रहेंगे। [मूल्य पौने दो रुपये

शमा जलती रही—गुप्त जी के एक और कमाल। मुगल सम्राट् औरंगजेब के जीवन पर लिखा गया बेजोड़ ऐतिहासिक उपन्यास। २॥)

काँटे और कलियाँ—(ले०—श्री रमेशचन्द्र झा) कवि के अतिरिक्त उपन्यासकार के रूप में भी आप ख्याति पा चुके हैं। सामाजिक जीवन पर आधारित अपने ढंग का अनूठा उपन्यास। [मूल्य दो रुपये

अँगारे—(ले०—श्रीकृष्ण चन्दर) अपने ढंग का क्रान्तिकारी उपन्यास। लेखक की कलम का कमाल। आज ही मँगाकर पढ़ें। [मूल्य दो रुपये

चित्र और चरित्र—(ले०—हिमांशु) यह सामाजिक मनोवैज्ञानिक अपने ढंग का अकेला है। [सजिल्द मूल्य ३)

घाघ और भड्डरी की कहावतें—(ले०—श्री रामलगन पाण्डेय)

प्राचीन काल से प्रचलित घाघ और भड्डुरी की कहावतें। किसान-वर्ग को चाहिए कि वे इसे आद्योपान्त अवश्य पढ़ डालें। खेती को सुसम्पन्न बनाने का अद्भुत प्रयास। [मूल्य डेढ़ रुपये

शरत् साहित्य—

शेष का परिचय—यह पुस्तक शरत् बाबू की अन्तिम रचना है। यह पुस्तक उनकी अमूल्य रचनाओं में से एक है। मू० ४॥)

विराज बहू—पतिव्रता रमणी की अपूर्व जीवन कथा। मू० २।)

देहाती समाज—देहाती जीवन का चित्र मू० २।)

गृहदाह—विफल दाम्पत्य जीवन का अत्यंत कारुणिक चित्रण। मू० ४)

मोड़—(श्री प्यारेलाल 'आवारा') इस उपन्यास में आवारा जी की कला में एक नई मोड़ ली है जो साहित्य में बिलकुल नवीन और अनूठी है। मू० २॥)

डगमगाती जिन्दगी—(श्री सोमनाथ 'अकेला') इसे पढ़ समाज का प्रत्येक प्राणी विद्रोह पर उतारू हो जायेगा। शब्द-शब्द में बगावत, समाज के मुँह पर भारी थप्पड़। मू० २।)

मिट्टी की माया—(श्री मिसेज पर्ल-बक) महादेश चीन के एक सीधे-सादे किसान की मर्मस्पर्शी जीवन गाथा। मू० २॥)

उच्छृङ्खल—(श्री 'निरुपमा देवी) पतिव्रता रमणी का विमल निष्कलंक चरित्र। मू० २)

आवरण—(श्री 'अरविन्द') कुरीतियों का चित्रण। मू० ३)

आह !—(श्री 'राजन') मजदूर इंसान जब मजबूरी की ठोकर खाते-खाते चूर-चूर हो जाता है तो केवल उसके पास बच जाती है–आह ! मू० २॥)

वात्स्यायन काम-सूत्र—महर्षि वात्स्यायन ने प्राचीन युग में काम शास्त्र पर संस्कृत में जो अनुपम ग्रन्थ रचा था, वह संसार में इस विषय में

बेजोड़ है। चिकित्सा व काम विषयक सारी बातें गुप्त बातें लिखी गई हैं। मू० ५)

गोविन्द सिंह रचित

लड़खड़ाते कदम—उस उभरती नयी पीढ़ी के लिये लिखा गया पारिवारिक उपन्यास, जिसके पात्र आपके आसपास के ही है। मू० ३)

पैर की धूल—रहस्य रोमाञ्च-रोमाञ्च से परिपूर्ण यह उपन्यास। एक अभिशप्त नारी की गाथा को लेकर लिखा हुआ अनोखा चित्रण है। तीन रुपया चार आना।

सुहाग—लेखक का सर्वश्रेष्ठ पारिवारिक एवं प्रथम सुखान्त उपन्यास। स्त्रियों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं शिक्षाप्रद है। मू० २।।)

ये भी इंसान हैं—गटर के कीड़ों की तरह पलनेवाले इंसानों का विद्रोह जो आज महलों को निगलने के लिए चल पड़े हैं, उनकी बुलन्द आवाज इसमें लेखक ने उठाई है। मू० ३)

हमें जीने दो—सभ्यता का आवरण ओढ़कर शरीफों की दुनिया में सीना ठोंकने वालों के मुँह पर एक करारा तमाचा। मू० ३)

दीया जले रातभर—मानव जीवन के इर्द-गिर्द चलने वाली घटनाओं का मनहर चित्रण। मू० २।।)

मैं बेगुनाह हूँ—एक साधारण-सी कथा को लेकर लिखा गया मनहर उपन्यास। मू० ४)

एक रात के साथी—हिन्दी का पहला उपन्यास जो वर्तमान के २४ घंटों पर ही लिखा गया है। कथा शैली व भाषा बेजोड़। मू० २।।)

गटर के कीड़े—रोमाञ्च रहस्य से परिपूर्ण एक हरिजन युवक की गाथा जिसका संघर्षमय चित्रण अनोखा है। मू० ४)

हड्डियों के ढाँचे—संतत आँसुओं से भरी जिन्दगी और आज के इंसान की जीती-जागती लाशें इसके पृष्ठ-पृष्ठ पर घूमती हैं। मू० ४)